श्रीमद्भगवद्गीता

मंगलमय पहला अध्याय

राजा धृतराष्ट्र ने कहा –

1 रण-लालसा से पुण्य-भू, कुरु-खेत में एकत्र हो।
मेरे सुतों ने, पाण्डवों ने, क्या किया संजय कहो॥

संजय ने कहा –

2 तब देखकर पाण्डव-कटक को व्यूह-रचना साज से।
इस भांति दुर्योधन वचन कहने लगे गुरुराज से॥
3 आचार्य महती-सैन्य सारी, पाण्डवों की देखिये।
तबि शष्यब ुधवरद्ुपद-सुतन ेद लस भी॰ यूहिति कये॥
4 भट भीम अर्जुन से अनेकों शूर श्रेष्ठ धनुर्धरे।
सात्यकि द्रुपद योद्धा विराट महारथी रणबांकुरे॥
5 भट धृष्टकेतु, नरेशकाशी, चेकितान महान् हैं।
नर-श्रेष्ठ शैब्य, नरेन्द्र पुरुजित, कुन्तिभोज समान हैं॥
6 श्री उत्तमौजा युधामन्यु, पराक्रमी वरवीर हैं।
सौभद्र, सारे द्रौपदेय, महारथी रणधीर हैं॥
7 द्विजराज ! जो अपने कटक के श्रेष्ठ, सेनापति सभी।
सुन लीजिये मैं नाम उनके भी सुनाता हूँ अभी॥
8 हैं आप फिर श्रीभीष्म, कर्ण, अजेय कृप रणधीर हैं।
भूरिश्रवा गुरुपुत्र और विकर्ण से बलवीर हैं॥
9 रण साज साजे निपुण शूर अनेक ऐसे बल भरे।
मेरे लिये तय्यार हैं, जीवन हथेली पर धरे॥
10 श्रीभीष्म-रक्षित है नहीं, पर्याप्त अपना दल बड़ा।
पर भीम-रक्षा में उधर, पर्याप्त उनका दल खड़ा॥
11 इस हेतु निज निज मोरचों पर, वीर पूरा बल धरें।
सब ओर चारों छोर से, रक्षा पितामह की करें॥
12 कुरुकुल पितामह तब नृपति मन मोद से भरते हुए।
करि वकटग र्जनि संहस ी,ि नजश ंख-ध्वनिक रतेह ुए॥
13 फिर शंख भेरी ढोल आनक गोमुखे चहुँ ओर से।
सब युद्ध बाजे एक दम बजने लगे ध्वनि घोर से॥
14 तब कृष्ण अर्जुन श्वेत घोड़ों से सजे रथ पर चढ़े।
निज दिव्य शंखों को बजाते वीर वर आगे बढ़े॥
15 श्रीकृष्ण अर्जुन 'पाञ्चजन्य' व 'देवदत्त' गुंजा उठे।
फिर भीमकर्मा भीम 'पौण्ड्र' निनाद करने में जुटे॥
16 करने लगे ध्वनि नृप युधिष्ठिर, निज 'अनन्तविजय' लिये।
गुंजितन कुलस हदेवन ेस ु-'सुघोष'' मणिपुष्पक'ि कये॥

श्रीमद्भगवद्गीता

मंगलमय पहला अध्याय

17 काशीनरेश विशाल धनुधारी, शिखण्डी वीर भी।
भट धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, श्रेष्ठ योधा गण सभी॥
18 सब द्रौपदी के सुत, द्रुपद, सौभद्र बल भरने लगे।
चहुँ ओर राजन् ! वीर निज निज शङ्ख ध्वनि करने लगे॥
19 वह घोर शब्द विदीर्ण सब कौरव-हृदय करने लगा।
चहुं ओर गूँज वसुन्धरा आकाश में भरने लगा॥
20 सब कौरवों को देख रण का साज सब पूरा किये।
शस्त्रादि चलने के समय अर्जुन-कपि-ध्वज धनु लिये॥
21 श्रीकृष्ण से कहने लगे आगे बढ़ा रथ लीजिये।
दोनों दलों के बीच में अच्युत ! खड़ा कर दीजिये॥
22 करलूँ निरीक्षण युद्ध में जो जो जुड़े रणधीर हैं।
इस युद्ध में माधव ! मुझे जिन पर चलाने तीर हैं॥
23 मैं देखलूँ रण-हेतु जो आए यहाँ बलवान हैं।
जो चाहते दुर्बुद्धि दुर्योधन-कुमति-कल्याण हैं॥

संजय ने कहा –

24 श्रीकृष्ण ने जब गुडाकेश विचार, भारत ! सुन लिया।
दोनों दलों के बीच में जाकर खड़ा रथ को किया॥
25 राजा, रथी, श्रीभीष्म, द्रोणाचार्य के जा सामने।
लो देखलो ! कौरव कटक, अर्जुन ! कहा भगवान् ने॥
26 तब पार्थ ने देखा वहां, सब हैं स्वजन बूढ़े बड़े।
आचार्य भाई पुत्र मामा, पौत्र प्रियजन हैं खड़े॥
27 स्नेही ससुर देखे खड़े, कौन्तेय ने देखा जहाँ।
दोनों दलों में देखकर, प्रिय बन्धु बान्धव ही वहाँ॥
28 कहने लगे इस भांति तब, होकर कृपायुत खिन्न से।
हे कृष्ण ! रण में देखकर, एकत्र मित्र अभिन्न से॥
29 होते शिथिल हैं अंग सारे, सूख मेरा मुख रहा।
तन कांपता थर थर तथा रोमांच होता है महा॥
30 गांडीव गिरता हाथसे, जलता समस्त शरीर है।
मैं रह नहीं पाता खड़ा, मन भ्रमित और अधीर है॥
31 दिखते सभी विपरीत लक्षण, खिन्न चित भगवान् है।
रण में स्वजन सब मार कर, दिखता नहीं कल्याण है॥
32 इच्छा नहीं जय राज्य की है, व्यर्थ ही सुख-भोग है।
गोविन्द ! जीवन राज्य-सुख का क्या हमें उपयोग है॥
33 जिसके लिये सुख भोग सम्पति राज्य की इच्छा रही।
लड़ने खड़े हैं आश तज धन और जीवन की वही॥

श्रीमद्भगवद्गीता

मंगलमय पहला अध्याय

34 आचार्यगण, मामा, पितामह, सुत, सभी बूढ़े बड़े।
साले, ससुर, स्नेही, सकल प्रिय पौत्र सम्बन्धी खड़े॥
35 क्या भूमि, मधुसूदन ! मिले त्रैलोक्य का यदि राज्य भी।
वे मारलें पर शस्त्र मैं उन पर न छोड़ूँगा कभी॥
36 इनको जनार्दन मारकर होगा हमें संताप ही।
हैं आतताई, मारने से पर लगेगा पाप ही॥
37 माधव ! उचित वध है न इनका बन्धु हैं अपने सभी।
निज बन्धुओं को मार कर क्या हम सुखी होंगे कभी॥
38 मति मन्द उनकी लोभ से, दिखता न उनको आप है।
कुल-नाश से क्या दोष, प्रिय-जन-द्रोह से क्या पाप है॥
39 कुल-नाश दोषों का जनार्दन ! जब हमें सब ज्ञान है।
फिर क्यों न ऐसे पाप से बचना भला भगवान् है।
40 कुल नष्ट होते भ्रष्ट होता कुल-सनातन-धर्म है।
जब धर्म जाता आ दबाता पाप और अधर्म है॥
41 जब वृद्धि होती पाप की कुल की बिगड़ती नारियां।
हे कृष्ण ! फलती फूलती तब वर्णसंकर क्यारियां॥
42 कुल घातकी को और कुल को ये गिराते पाप में।
होता न तर्पण पिण्ड यों पड़ते पितर संताप में॥
43 कुल घातकों के वर्णसंकर-कारकी इस पाप से।
सारे सनातन, जाति, कुल के धर्म मिटते आप से॥
44 इस भांति से कुल-धर्म जिनके कृष्ण ! होते भ्रष्ट हैं।
कहते सुना है वे सदा पाते नरक में कष्ट हैं॥
45 हम राज्य सुख के लोभ से हा ! पाप यह निश्चय किये।
उद्यत हुए सम्बन्धियों के प्राण लेने के लिये॥
46 यह ठीक हो यदि शस्त्र ले मारें मुझे कौरव सभी।
निःशस्त्र हो मैं छोड़ दूँ करना सभी प्रतिकार भी॥

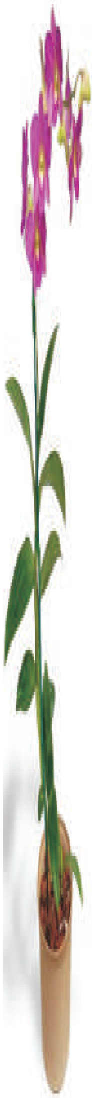
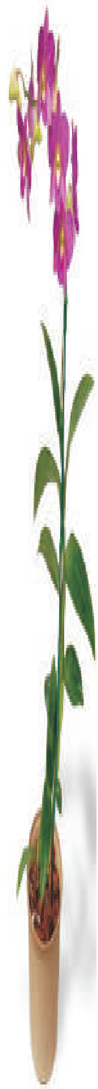

संजय ने कहा –

47 रणभूमि में इस भाँति कहकर पार्थ धनु-शर छोड़ के।
अति शोक से व्याकुल हुए बैठे वहीं मुँह मोड़ के॥

॥ मंगलमय पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥

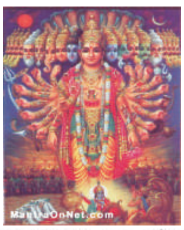

श्रीमद्भगवद्गीता

अमृतमय दूसरा अध्याय

संजय ने कहा -

1 **ऐसे कृपायुत अश्रुपूरित दुःख से दहते हुए।**
कौन्तेय से इस भांति मधुसूदन वचन कहते हुए॥

श्रीभगवान् ने कहा-

2 **अर्जुन! तुम्हें संकट समय कैसे हुआ अज्ञान है।**
जो आर्य-अनुचित और नाशक स्वर्ग, सुख, सन्मान है॥
3 **अनुचित नपुंसकता तुम्हें हे पार्थ ! इसमें मत पड़ो।**
यह क्षुद्र कायरता परंतप ! छोड़कर आगे बढ़ो॥

अर्जुन ने कहा -

4 **किस भांति मधुसूदन समर में भीष्म द्रोणाचार्य पर।**
मैं वाण अरिसूदन चलाऊं वे हमारे पूज्यवर॥
5 **भगवन् ! महात्मा गुरु-जनों का मारना न यथेष्ट है।**
इससे जगत में मांग भिक्षा पेट-पालन श्रेष्ठ है॥
इन गुरुजनों को मार कर, जो अर्थलोलुप हैं बने।
उनके रुधिर ही से सने, सुख भोग होंगे भोगने॥
6 **जीतें उन्हें हम या हमें वे, यह न हमको ज्ञात है।**
यह भी नहीं हम जानते, हितकर हमें क्या बात है।
जीवित न रहना चाहते हम, मार कर रण में जिन्हें।
धृतराष्ट्र-सुत कौरव वही, लड़ने खड़े हैं सामने॥
7 **कायरपने से हो गया सब नष्ट क्षात्र-स्वभाव है।**
मोहित हुई मति ने भुलाया धर्म विषयक भाव है॥
आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये।
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये॥
8 **धन-धान्य-शाली राज्य निष्कंटक मिले संसार में।**
स्वामित्व सारे देवताओं का मिले विस्तार में॥
कोई कहीं साधन मुझे फिर भी नहीं दिखता अहो।
जिससे कि इन्द्रिय-तापकारी शोक सारा दूर हो॥

संजय ने कहा -

9 **इसभ ाांतिक हकरकृ ष्णस ॅ,र ाजन्!‘ ‘लड़ूँगाम ॅैन हीं’’।**
ऐसे वचन कह गुडाकेश अवाच्य हो बैठे वहीं॥
10 **उस पार्थ से, रण-भूमि में जो, दुःख से दहने लगे।**
हंसते हुए से हृषीकेश तुरन्त यों कहने लगे॥

श्री भगवान् ने कहा -

11 **कह विज्ञ-वाक्य अशोच्य का तू व्यर्थ करता शोच भी।**
जीते मरे की विज्ञजन चिंता नहीं करते कभी॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अमृतमय दूसरा अध्याय

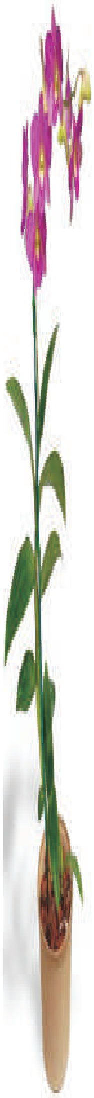

12 मैं और तू राजा सभी देखो कभी क्या थे नहीं।
यह भी असम्भव हम सभी अब फिर नहीं होंगे कहीं।।
13 ज्यों बालपन, यौवन जरा इस देह में आते सभी।
त्यों जीव पाता देह और, न धीर मोहित हों कभी।
14 शीतोष्ण या सुख-दु:ख-प्रद कौन्तेय इन्द्रिय भोग हैं।
आते व जाते हैं सहो सब नाशवत संयोग हैं।।
15 नर श्रेष्ठ ! वह नर श्रेष्ठ है इनसे व्यथा जिसको नहीं।
वहम ेक्षप ानेय ेग्यहै ,स ुखद ुखि जसेस मस बक हीं।।
16 जो है असत् रहता नहीं, सत् का न किन्तु अभाव है।
लखि अन्त इनका ज्ञानियों ने यों किया ठहराव है।
17 यह याद रख अविनाशि है जिसने किया जग व्याप्त है।
अविनाशि का नाशक नहीं कोई कहीं पर्याप्त है।
18 इस देह में आत्मा अचिन्त्य सदैव अविनाशी अमर।
पर देह उसकी नष्ट होती अस्तु अर्जुन युद्ध कर।।
19 है जीव मरने मारने वाला यही जो मानते।
यह मारता मरता नहीं दोनों न वे जन जानते।।
20 मरता न लेता जन्म, अब है, फिर यहीं होगा कहीं।
शाश्वत,प ुरातन,अ ज,अ मरत नव र्धि कयेम रतान हीं।।
21 अव्यय अजन्मा नित्य अविनाशी इसे जो जानता।
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता।।
22 जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी।
यों जीर्ण तन को त्याग नूतन देह धरता जीव भी।।
23 आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं।
सूखे न आत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं।।
24 छिदने न जलने और गलने सूखने वाला कभी।
यह नित्य, नि श्चल, थिर, सनातन और है सर्वत्र भी।।
25 इन्द्रिय पहुंच से है परे, मन-चिन्तना से दूर है।
अविकार इसको जान दुख में व्यर्थ रहना चूर है।।
26 यदि मानते हो नित्य मरता, जन्मता रहता यहीं।
तो भी महाबाहो ! उचित ऐसी कभी चिन्ता नहीं।।
27 जन्मे हुए मरते, मरे निश्चय जनम लेते कहीं।
ऐसी अटल जो बात है उसकी उचित चिन्ता नहीं।।
28 अव्यक्त प्राणी आदि में हैं, मध्य में दिखते सभी।
फिर अन्त में अव्यक्त, क्या इसकी उचित चिन्ता कभी।।

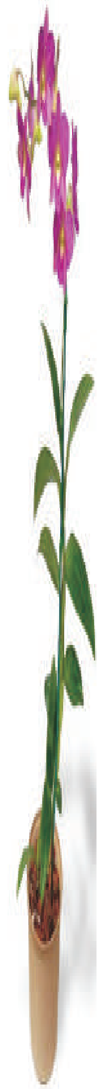

श्रीमद्भगवद्गीता

अमृतमय दूसरा अध्याय

29 कुछ देखते आश्चर्य से, आश्चर्यवत कहते कहीं।
कोई सुने आश्चर्यवत, पहिचानता फिर भी नहीं॥
30 सारे शरीरों में अमर आत्मा न वध होता किये।
फिर प्राणियों का शोक यों तुमको न करना चाहिये॥
31 फिर देखकर निज धर्म, हिम्मत हारना अपकर्म है।
इस धर्म-रण से बढ़ न क्षत्रिय का कहीं कुछ धर्म है॥
32 रण स्वर्गरूपी द्वार देखो खुल रहा है आप से।
यह प्राप्त होता क्षत्रियों को युद्ध भाग्य-प्रताप से॥
33 तुम धर्म के अनुकूल रण से जो हटे पीछे कभी।
निज धर्म खो अपकीर्ति लोगे और लोगे पाप भी॥
34 अपकीर्ति गायेंगे सभी फिर इस अमिट अपमान से।
अपकीर्ति, सम्मानित पुरुष को अधिक प्राण-पयान से॥
35 ''रण छोड़कर डर से भगा अर्जुन'' कहेंगे सब यही।
सन्मान करते वीरवर जो तुच्छ जानेंगे वही॥
36 कहने न कहने की खरी खोटी कहेंगे रिपु सभी।
सामर्थ्य-निन्दा से घना दुख और क्या होगा कभी॥
37 जीते रहे तो राज्य लोगे, मर गये तो स्वर्ग में।
इस हेतु निश्चय युद्ध का करके उठो अरिवर्ग में॥
38 जय-हार लाभालाभ, सुख-दुख सम समझकर सब कहीं।
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर ! पाप यों होगा नहीं॥
39 हैस ांख्यक ाय हज्ञ ानअ बस ुनय ेगक ाश ुभज्ञ ानभ ी।
हो युक्त जिससे कर्म-बन्धन पार्थ ! छूटेंगे सभी॥
40 आरम्भ इसमें है अमिट यह विघ्न वाधा से परे।
इस धर्म का पालन तनिक भी सर्व संकट को हरे॥
41 इस मार्ग में नित निश्चयात्मक-बुद्धि अर्जुन एक है।
बहु बुद्धियां बहु भेद-युत उनकी जिन्हें अविवेक है॥
42 जो वेदवादी, कामनाप्रिय, स्वर्गइच्छुक, मूढ़ हैं।
''अतिरिक्त इसके कुछ नहीं'' बातें बढ़ा कर यों कहें॥
43 नाना क्रिया विस्तारयुत, सुख भोग के हित सर्वदा।
जिस जन्मरूपी कर्म-फल-प्रद बात को कहते सदा॥
44 उस बात से मोहित हुए जो भोग वैभव रत सभी।
व्यवसाय बुद्धि न पार्थ ! उनकी हो समाधिस्थित कभी॥
45 हैं वेद त्रिगुणों से भरे तुम गुणातीत महान् हो।
तज योग क्षेम व द्वन्द्व नित सत्वस्थ आत्मावान् हो॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अमृतमय दूसरा अध्याय

46 जितना प्रयोजन कूप से चहुं ओर निर्मल जल बहे।
मतिमान् ब्राह्मण का प्रयोजन वेद से उतना रहे॥
47 अधिकार केवल कर्म करने का, नहीं फल में कभी।
होना न तू फल-हेतु भी, छोड़ देना कर्म भी॥
48 आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही।
योगस्थ होकर कर्म कर, है योग समता ज्ञान ही॥
49 इस बुद्धियोग महान से सब कर्म अतिशय हीन हैं।
इस बुद्धि की अर्जुन शरण लो चाहते फल दीन हैं॥
50 जो बुद्धि-युत है पाप-पुण्यों में न पड़ता है कभी।
बन योग-युत, है योग ही यह कर्म में कौशल सभी॥
51 नित बुद्धि-युत हो कर्म के फल त्यागते मतिमान् हैं।
वे जन्म-बन्धन तोड़ पद पाते सदैव महान् हैं॥
52 इस मोह के गंदले सलिल से पार मति होगी जभी।
वैराग्य होगा सब विषय में जो सुना सुनना अभी॥
53 श्रुति-भ्रान्त-बुद्धि समाधि में तेरी अचल, थिर हो जभी।
हे पार्थ ! योग समत्व होगा प्राप्त यह तुझको तभी॥

अर्जुन ने कहा -

54 केशव ! किसे दृढ़-प्रज्ञजन अथवा समाधिस्थित कहें।
थिर-बुद्धि कैसे बोलते, बैठें, चलें, कैसे रहें॥

श्रीभगवान् ने कहा -

55 हे पार्थ ! मन की कामना जब छोड़ता है जन सभी।
हो आप आपे में मगन दृढ़-प्रज्ञ होता है तभी॥
56 सुख में न चाह, न खेद जो दुख में कभी अनुभव करे।
थिर-बुद्धि वह मुनि, राग एवं क्रोध भय से जो परे॥
57 शुभ या अशुभ जो भी मिले उसमें न हर्ष न शोक ही।
निःस्नेह जो सर्वत्र है थिर-बुद्धि होता है वही॥
58 हे पार्थ ज्यों कछुआ समेटे अङ्ग चारों छोर से।
थिर-बुद्धि जब यों इन्द्रियां सिमटें विषय की ओर से॥
59 होत विषय सब दूर हैं आहार जब जन त्यागता।
रस किन्तु रहता, ब्रह्म को कर प्राप्त वह भी भागता॥
60 कौन्तेय ! करते यत्न इन्द्रिय-दमन हित विद्वान् हैं।
मन किन्तु बल से खैंच लेती इन्द्रियां बलवान् हैं॥
61 उन इन्द्रियों को रोक, बैठे योग-युत मत्पर हुआ।
आधीन जिसके इन्द्रियां, दृढ़-प्रज्ञ वह नित नर हुआ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अमृतमय दूसरा अध्याय

62 चिन्तन विषय का, सङ्ग. विषयों में बढ़ाता है तभी।
फिर संग से हो कामना, हो कामना से क्रोध भी॥
63 फिर क्रोध से है मोह, सुधि को मोह करता भ्रष्ट है।
यह सुधि गए फिर बुद्धि विनशे, बुद्धि-विनशे नष्ट है॥
64 पर राग-द्वेष-विहीन सारी इन्द्रियां आधीन कर।
फिर भोग करके भी विषय, रहता सदैव प्रसन्न नर॥
65 हो प्राप्त जब सुप्रसन्नता, दुख नष्ट होते हैं सभी।
जब चित्त में है मोद, होती बुद्धि भी है दृढ़ तभी॥
66 रहकर अयुक्त न बुद्धि अथवा भावना होगी कहीं।
बिनभ ाावनान हिंश ाांतिह ै,ि बनश ाांतिक ेस ुखह ैन हीं॥
67 सब विषय विचरित इन्द्रियों में, साथ मन जिसके रहे।
वह बुद्धि हर लेती, पवन से नाव ज्यों जल में बहे॥
68 चहुं ओर से इन्द्रिय-विषय से, इन्द्रियां जब दूर ही।
रहती हटीं जिसकी सदा, दृढ़-प्रज्ञ होता है वही॥
69 सबकी निशा तब जागता योगी पुरुष हे तात ! है।
जिसमें सकल जन जागत्ते, ज्ञानी पुरुष की रात है॥
70 सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा।
आकर समाता, किन्तु अविचल सिन्धु रहता सर्वदा॥
इस भांति ही जिसमें विषय जाकर समा जाते सभी।
वह शांति पाता है, न पाता काम-कामी-जन कभी॥
71 सब त्याग इच्छा कामना, जो नर विचरता नित्य ही।
मद और ममता हीन होकर, शांति-पद पाता वही॥
72 यह पार्थ ! ब्राह्मीस्थिति इसे पा नर न मोहित हो कभी।
निर्वाण पद हो प्राप्त इसमें ठैर अन्तिम काल भी॥

॥ अमृतमय दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मयोग तीसरा अध्याय

अर्जुन ने कहा -

1 यदि हे जनाद्रन ! कर्म से तुम बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो।
तो फिर भंयकर कर्म में मुझको लगाते क्यों कहो।।
2 उलझन भरे कह वाक्य, भ्रमता डालते भगवान् हो।
वह बात नि श्चय कर कहो जिससे मुझे कल्याण हो।।

श्रीभगवान् ने कहा -

3 पहले कही दो भांति निष्ठा, ज्ञानियों की ज्ञान से।
फिर योगियों की योग-निष्ठा, कर्मयोग विधान से।।
4 आरम्भ बिन ही कर्म के निष्कर्म हो जाते नहीं।
सब कर्म ही के त्याग से भी सिद्धि जन पाते नहीं।।
5 बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी।
हो प्रकृति-गुण आधीन करने कर्म पड़ते हैं सभी।।
6 कर्मेन्द्रियों को रोक जो मनसे विषय-चिन्तन करे।
वह मूढ़ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे।।
7 जो रोक मन से इन्द्रियां आसक्ति बिन हो नित्य ही।
कर्मेन्द्रियों से कर्म करता श्रेष्ठ जन अर्जुन ! वही।।
8 बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित-कर्म करना धर्म है।
बिन कर्म के तन भी न सधता, कर नियत जो कर्म है।।
9 तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन पार्थ ! हैं।
अतएव तज आसक्ति सब कर कर्म जो यज्ञार्थ हैं।।
10 विधि ने प्रजा के साथ पहले यज्ञ को रच के कहा।
पूरे कर यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा।।
11 मख से करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा।
ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा।।
12 मख-तृप्त हो सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही।
उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही।।
13 जो यज्ञ में दे भाग खाते पाप से छुट कर तरें।
तन हेतु जो खाते पकाते पाप में घुट कर मरें।।
14 सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से।
यह वृष्टि होती यज्ञ से, जो कर्म की शुभ सृष्टि से।।
15 फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर से कहा।
यों यज्ञ में सर्वत्र-व्यापी ब्रह्म नित ही रम रहा।।
16 चलता न जो इस भांति चलते चक्र के अनुसार है।
पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू-भार है।।

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मयोग तीसरा अध्याय

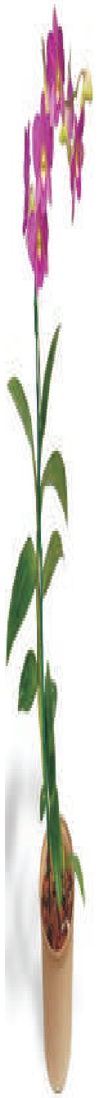

17 नित किन्तु जो जन आत्मरत है आत्म-तृप्त विशेष है।
संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है॥
18 उसको न कोई लाभ है करने न करने से कहीं।
हे पार्थ ! प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं॥
19 जब है यही, कर्तव्यकर, आसक्ति छोड़ सदैव ही।
जो कर्म यों करता परम-पद नित्य नर पाता वही॥
20 जनकादि ने भी सिद्धि पाई कर्म ऐसे ही किये।
फिर लोकसंग्रह देख कर भी कर्म करना चाहिये॥
21 जो कार्य करता श्रेष्ठ जन करते वही हैं और भी।
उसके प्रमाणित-पंथ पर ही पैर धरते हैं सभी॥
22 अप्राप्त मुझको कुछ नहीं जो प्राप्त करना हो अभी।
त्रैलोक्य में करना न कुछ पर कर्म करता मैं सभी॥
23 आलस्य तजके पार्थ ! मैं यदि कर्म में वरतूँ नहीं।
सब भांति मेरा अनुकरण ही नर करेंगे सब कहीं॥
24 यदि छोड़दूँ मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो।
मैं सर्व संकर का बनूँ कर्ता, सभी जग नष्ट हो॥
25 ज्यों मूढ़ मानव कर्म करते नित्य कर्मासक्त हो।
यों लोकसंग्रह-हेतु करता कर्म विज्ञ विरक्त हो॥
26 ज्ञानी न डाले भेद कर्मासक्त की मति में कभी।
वह योग-युत हो कर्म कर, उनसे करावे फिर सभी॥
27 नित प्रकृति-गुण द्वारा किये सब कर्म हैं सुविधान से।
मैं कर्म करता, मूढ़-मानव मानता अभिमान से॥
28 गुण और कर्म विभाग के सब तत्व जो जन जानता।
होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण में मानता॥
29 गुण कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुण मोहित सभी।
उन मंद मूढ़ों को करे विचलित न ज्ञानी जन कभी॥
30 अध्यात्म-मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढ़ो।
फल-आश ममता छोड़कर निश्चिन्त होकर फिर लड़ो॥
31 जो दोष-बुद्धि विहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त हैं।
मेरे सुमत अनुसार करके कर्म वे नर मुक्त हैं॥
32 जो दोष-दर्शी मूढ़मति मत मानते मेरा नहीं।
वे सर्वज्ञान-विमूढ़ नर नित नष्ट जानो सब कहीं॥
33 वर्ते सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान-निधान भी।
निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी॥

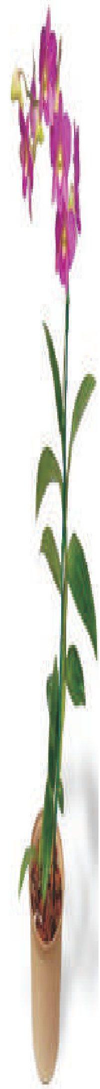

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मयोग तीसरा अध्याय

34 अपने विषय में इन्द्रियों को राग भी है द्वेष भी।
ये शत्रु हैं, वश में न इनके चाहिये आना कभी॥
35 ऊँचे सुलभ पर धर्म से निज विगुण धर्म महान् है।
पर-धर्म भय-प्रद, मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है॥

अर्जुन ने कहा -

36 भगवन् ! कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है।
फिर कौन बल से खींच कर उससे कराता पाप है॥

श्री भगवान् ने कहा -

37 पैदा रजोगुण से हुआ यह काम ही यह क्रोध ही।
पेटू महापापी कराता पाप है, बैरी यही॥
38 ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुएँ से आग, शीशा धूल से।
यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी (आमूल) से॥
39 यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है।
इसने ढका कौन्तेय ! सारे ज्ञानियों का ज्ञान है॥
40 मन, इन्दियों में, बुद्धि में यह वास वैरी नित करे।
इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्म को मोहित करे॥
41 इन्द्रिय-दमन करके करो फिर नाश शत्रु महान् का।
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का॥
42 हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ ! मन मानो परे।
मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे॥
43 यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को।
मन वश्य करके नष्ट करदे काम शत्रु महान् को॥

॥ कर्मयोग तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञान कर्म संन्यास योग चौथा अध्याय

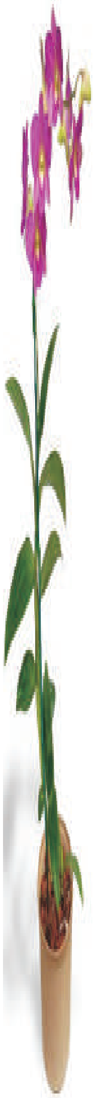

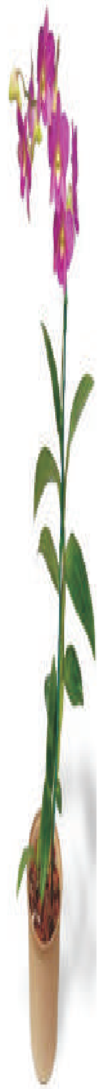

श्रीभगवान् ने कहा -

1 **मैंने कहा था सूर्य के प्रति योग यह अव्यय महा।**
फिर सूर्य ने मनु से कहा, इक्ष्वाकु से मनु ने कहा॥
2 **यों राज-ऋषि परिचित हुए सुपरम्परागत योग से।**
इस लोक में वह मिट गया बहु काल के संयोग से॥
3 **मैंने समझ कर यह पुरातन योग श्रेष्ठ रहस्य है।**
तुझसे कहा सब क्योंकि तू मम भक्त और वयस्य है।

अर्जुन ने कहा -

4 **पैदा हुए थे सूर्य पहले आप जन्मे हैं अभी।**
मैं मानलूँ कैसे कहा यह आपने उनसे कभी॥

श्रीभगवान् ने कहा -

5 **मैं और तू अर्जुन अनेकों बार जन्में हैं कहीं।**
सब जानता हूँ मैं परंतप ! ध्यान तुझको है नहीं॥
6 **यद्यपि अजन्मा, प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम्।**
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूँ जन्म माया से स्वयम्॥
7 **जब जब धरम की हानि होती और बढ़ता पाप ही।**
तब तब सदा मैं धारता अवतार, भारत ! आप ही॥
8 **सब साधु जन रक्षार्थ, दुर्जन-नाश करने के लिये।**
युग युग प्रकट होता सुधर्म-विकास करने के लिये॥
9 **जो दिव्य मेरा जन्म कर्म रहस्य से सब जान ले।**
मुझमें मिले तन त्याग, अर्जुन ! फिर न वह जन जन्म ले॥
10 **मन्मय ममाश्रित जन हुए भय क्रोध राग-विहीन हैं।**
तप यज्ञ से हो शुद्ध बहु मुझमें हुए लवलीन हैं॥
11 **जिस भांति भजते जो मुझे उस भांति दूं फल-भोग भी।**
सब ओर से ही वर्तते मम मार्ग में मानव सभी॥
12 **इस लोक में करते फलेच्छुक देवता-आराधना।**
तत्काल होती पूर्ण उनकी कर्म-फल की साधना॥
13 **मैंने बनाये कर्म गुण के भेद से चहुँ वर्ण भी।**
कर्ता उन्हों का जान तू, अव्यय अकर्ता मैं सभी॥
14 **फल की न मुझको चाह, बँधता मैं न कर्मों से कहीं।**
यों जानता है जो मुझे वह कर्म से बंधता नहीं॥
15 **यह जान कर्म मुमुक्षुपुरुषों ने सदा पहिले किये।**
प्राचीन पूर्वज-कृत करो अब कर्म तुम इसही लिये॥
16 **क्या कर्म और अकर्म है भूले यही विद्वान् भी।**
जो जान पापों से छुटो, वह कर्म कहता हूं सभी॥

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञान कर्म संन्यास योग चौथा अध्याय

17 हे पार्थ ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है।
यह जान लो सब, कर्म की गति गहन और महान् है।।
18 जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही।
है योग-युत ज्ञानी वही सब कर्म करता है वही।।
19 ज्ञानी उसे पंडित कहें, उद्योग जिसके हों सभी।
फल-वासना बिन, भस्म हों ज्ञानाग्नि में सब कर्म भी।।
20 जो है निराश्रय तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी।
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी कहीं करता कभी।।
21 जो कामना तज, सर्वसंग्रह त्याग, मन वश में करे।
केवल करे जो कर्म दैहिक, पाप से है वह परे।।
22 बिन द्वेष द्वन्द्वअसिद्धि सिद्धि समान हैं जिसको सभी।
जो है यदृच्छा-लाभ-तृप्त, न बद्ध वह कर कर्म भी।।
23 चित ज्ञान में जिनका सदा जो मुक्त संग-विहीन हों।
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों।।
24 मख ब्रह्म से, ब्रह्माग्नि में, हवि ब्रह्म, अर्पणा ब्रह्म है।
सब कर्म जिसको ब्रह्म, करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है।।
25 योगी पुरुष कुछ दैव-यज्ञ उपासना में मन धरें।
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ ज्ञानी जन करें।।
26 कुछ होमते श्रोत्रादि इन्द्रिय संयमों की आग में।
इन्द्रिय-अनल में कुछ विषय शब्दादि आहुति दे रमें।।
27 कर आत्म-संयमरूप योगानल प्रदीप्त सुज्ञान से।
कुछ प्राण एवं इन्द्रियों के कर्म होमें ध्यान से।।
28 कुछ संयमी जन यज्ञ करते योग, तप से, दान से।
स्वाध्याय से करते यती, कुछ यज्ञ करते ज्ञान से।।
29 कुछ प्राण में होमें अपान व प्राणवायु अपान में।
कुछ रोक प्राण अपान प्राणायाम ही के ध्यान में।।
30 कुछ मिताहारी हवन करते प्राण ही में प्राण हैं।
क्षय पाप यज्ञों से किये ये यज्ञ-विज्ञ महान् हैं।।
31 जो यज्ञ का अवशेष खाते ब्रह्म को पाते सभी।
परलोक तो क्या, यज्ञ-त्यागी को नहीं यह लोक भी।।
32 बहु भांति से यों ब्रह्म-मुख में यज्ञ का विस्तार है।
होते सभी हैं कर्म से, यह जानकर निस्तार है।।
33 धन-यज्ञ से समझो सदा ही ज्ञान-यज्ञ प्रधान है।
सब कर्म का नित ज्ञान में पार्थ ! पर्यवसान है।।

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञान कर्म संन्यास योग चौथा अध्याय

34 सेवा विनय प्रणिपात पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से।
उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्व-दर्शी ज्ञान से॥
35 होगा नहीं फिर मोह ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध विवेक से।
तब ही दिखेंगे जीव मुझमें और तुझमें एक से॥
36 तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो।
इस ज्ञान-नय्या से सहज में पाप-सागर पार हो॥
37 ज्यों पार्थ ! पावक प्रज्वलित ईंधन जलाती है सदा।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा॥
38 इस लोक में साधन पवित्र न और ज्ञान समान है।
योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं वह ज्ञान है।
39 श्रद्धा सहित जो जीत इन्द्रिय, ज्ञान में तत्पर रहे।
वह शीघ्र पाकर ज्ञान यह, सुख शान्ति सागर में बहे॥
40 जिसमें न श्रद्धा ज्ञान, संशयवान् डूबे सब कहीं।
उसके लिये सुख, लोक या परलोक कुछ भी है नहीं॥
41 तज योग-बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी।
उस आत्म-ज्ञानी को न बांधे, कर्म बन्धन में कभी॥
42 अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान कृपान से।
अर्जुन खड़ा हो युद्ध कर, हो योग आश्रित ज्ञान से॥

॥ ज्ञान कर्म संन्यास योग चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्म संन्यास योग पाँचवां अध्याय

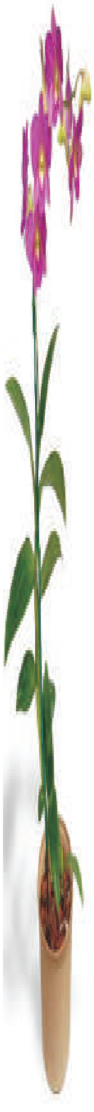

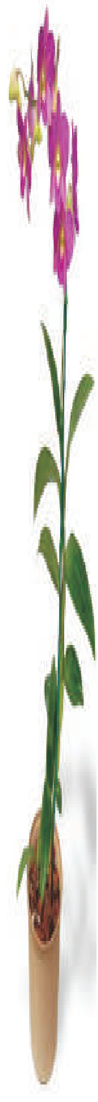

अर्जुन ने कहा -

1 कहते कभी हो योग को उत्तम कभी संन्यास को।
हे कृष्ण ! कहदो एक निश्चय श्रेय, अपने दास को॥

श्रीभगवान् ने कहा -

2 संन्यास एवं योग दोनों मोक्षकारी हैं महा।
संन्यास से पर कर्मयोग महान् हितकारी कहा॥
3 है नित्य संन्यासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही।
तज द्वन्द्वसुख से सर्व बन्धन-मुक्त होता है वही॥
4 हैं 'सांख्य' 'योग' विभिन्न कहते मूढ़, नहिं पण्डित कहें।
पाते उभय फल एक के जो पूर्ण साधन में रहें॥
5 पाते सुगति जो सांख्य-ज्ञानी कर्म-योगी भी वही।
जो सांख्य, योग समान जाने तत्व पहिचाने सही॥
6 निष्कामकर्म-विहीन हो, पाना कठिन संन्यास है।
मुनि कर्म-योगी शीघ्र करता ब्रह्म ही में वास है॥
7 जो योग युत है, शुद्ध मन, निज-आत्म-युत देखे सभी।
वहअ त्म-इन्द्रिय-जीतज न,न हिंलिप्तक रकेक र्मभ ी॥
8 तत्त्वज्ञ योगी मानता मैं कुछ कभी करता नहीं।
खाकर व पाकर देख सुन कर सूँघ कर जाकर कहीं॥
9 छूते व सोते सांस लेते छोड़ते या बोलते।
वर्तें विषय में इन्द्रियां दृग बन्द करते खोलते॥
10 जो संग-विरहित ब्रह्म-अर्पण कर्म करता आप है।
जल ज्यों कमल दल पर, नहीं लगता उसे यों पाप है॥
11 मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी कभी।
तज संग, योगी कर्म करते आत्म-शोधन-हित सभी॥
12 फल से सदैव विरक्त हो नित शांति पाता युक्त है।
फल-कामना में सक्त हो बंधता सदैव अयुक्त है॥
13 सब कर्म तज मन से जितेन्द्रिय जीवधारी मोद से।
बिन कुछ कराये या किये नव-द्वार-पुर में नित बसे॥
14 कर्तृत्व कर्म न, कर्म-फल-संयोग जगदीश्वर कभी।
रचता नहीं अर्जुन ! सदैव स्वभाव करता है सभी॥
15 ईश्वर न लेता है किसी का पुण्य अथवा पाप ही।
है ज्ञान माया से ढका यों जीव मोहित आप ही॥
16 शुभ आत्म-ज्ञान महान् से अज्ञान जिसका नाश हो।
तब सूर्य सम उस ज्ञान से परमार्थ-तत्त्व प्रकाश हो॥

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्म संन्यास योग पाँचवां अध्याय

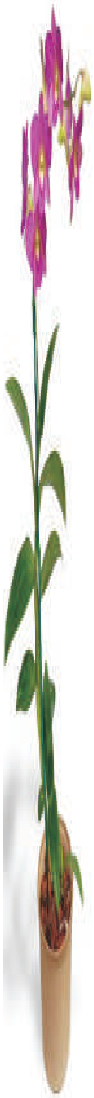

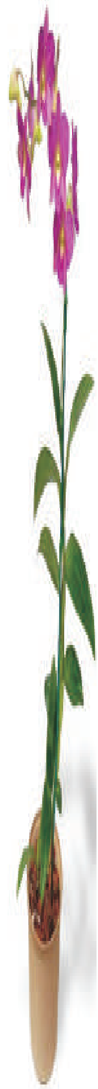

17 तन्निष्ठ तत्पर जो उसी में, बुद्धि मन धरते वहीं।
वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं॥
18 विद्या-विनय-युत-द्विज, श्वपच, चाहे गऊ, गज, श्वान है।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है॥
19 जो जन रखें मन साम्य में वे जीत लेते जग यहीं।
है ब्रह्म सम निर्दोष नित यों ब्रह्म में वे सब कहीं॥
20 प्रिय वस्तु पा न प्रसन्न, अप्रिय पा न जो सुख-हीन है।
निर्मोह दृढ़मति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लवलीन है॥
21 नहिं भोग विषयासक्त जो जन आत्म-सुख पाता वही।
वह ब्रह्मयुत, अनुभव करे अक्षय महा सुख नित्य ही॥
22 जो बाहरी संयोग से हैं भोग, दुखकारण सभी।
है आदि उनका अन्त, उनमें विज्ञ नहिं रमते कभी॥
23 जो काम-क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही।
संसार में योगी वही नर, सुख सदा पाता वही॥
24 आराम अन्तः सुख जिसे है ज्योति अन्त-व्याप्त है।
वह युक्त ब्रह्म-स्वरूप हो निर्वाण करता प्राप्त है॥
25 निष्पाप जो कर आत्म-संयम द्वन्द्व-बुद्धि-विहीन हैं।
रत जीवहित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन हैं॥
26 यति काम क्रोध विहीन जिनमें आत्म-ज्ञान प्रधान है।
जीता जिन्होंने मन उन्हें सब ओर ही निर्वान है॥
27 धर दृष्टि भृकुटी मध्य में तज बाह्य विषयों को सभी।
नित नासिका चारी किये सम प्राण और अपान भी॥
28 वश में करे नित बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है।
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है॥
29 जाने मुझे तप यज्ञ भोक्ता लोक स्वामी नित्य ही।
सब प्राणियों का मित्र जाने शांति पाता है वही॥

॥ कर्म सन्यास योग पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

आत्म उद्धार योग छठा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

1 फल-आश तज, कर्तव्य कर्म सदैव जो करता, वही -
योगी व संन्यासी, न जो बिन अग्नि या बिन कर्म ही॥
2 वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते है सभी।
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी॥
3 जो योग-साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म है।
हो योग में आरूढ़, उसका हेतु उपशम धर्म है॥
4 जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी।
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ़ कहलाता तभी॥
5 निज से करे उद्धार निज, निज को न गिरने दे कभी।
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी॥
6 जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही।
जाना न अपने को स्वयं, रिपु सी करे रिपुता वही॥
7 अति शान्त जन, मन जीत का आत्मा सदैव समान है।
सुख, दुःख, शीतल, ऊष्ण अथवा मान या अपमान है॥
8 कूटस्थ इन्द्रियजीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है।
वह युक्त जिसको स्वर्ण, पत्थर, धूल एक समान है॥
9 वैरी, सुहृद, मध्यस्थ, साधु, असाधु, जिनसे द्वेष है।
बान्धव, उदासी, मित्र में सम बुद्धि पुरुष विशेष है॥
10 चित्त-आत्म-संयम नित्य एकाकी करे एकान्त में।
तज आश संग्रह नित निरन्तर योग में योगी रमें॥
11 आसन धरे शुचि-भूमि पर थिर, ऊंच नीच न ठौर हो।
कुश पर बिछा मृगछाल, उस पर वस्त्र पावन और हो॥
12 एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार को।
फिर आत्म-शोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को॥
13 होकर अचल, दृढ़, शीश ग्रीवा और काया सम करे।
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासाग्र पर ही दृग धरे॥
14 बन ब्रह्मचारी शान्त, मन-संयम करे, भय-मुक्त हो।
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाकर युक्त हो॥
15 यों जो नियत-चित युक्त योगाभ्यास में रत नित्य ही।
मुझमें टिकी निर्वाणपद-प्रद शांति पाता है वही॥
16 यह योग अति खाकर न सधता है, न अति उपवास से।
सधता न अतिशय नींद अथवा जागरण के त्रास से॥
17 जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हों।
हो दुःख-हारी योग जब परिमित सभी व्यवहार हों॥

श्रीमद्भगवद्गीता

आत्म उद्धार योग छठा अध्याय

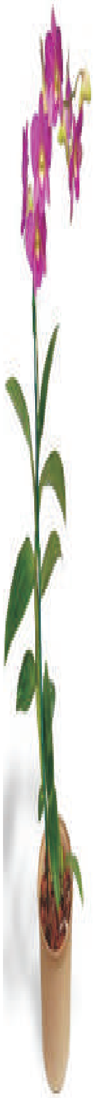

18 संयत हुआ चित्त आत्म ही में नित्य रम रहता जभी।
रहती न कोई कामना नर युक्त कहलाता तभी॥
19 अविचल रहे बिन वायु दीपक-ज्योति जैसे नित्य ही।
है चित्तसंयत योग-साधक युक्त की उपमा वही॥
20 रमता जहां चित योग-सेवन से निरुद्ध सदैव है।
जब देख अपने आप को सन्तुष्ट आत्मा में रहे॥
21 इन्द्रिय-अगोचर बुद्धि-गम्य अनन्त सुख अनुभव करे।
जिसमें रमा योगी न डिगता तत्त्व से तिल भर परे॥
22 पाकर जिसे जग में न उत्तम लाभ दिखता है कहीं।
जिसमें जमे जन को कठिन दुख भी डिगा पाता नहीं॥
23 कहते उसे ही योग जिसमें सर्व-दुःख-वियोग है।
दृढ़-चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है॥
24 संकल्प से उत्पन्न सारी कामनाएँ छोड़के।
मनसे सदा सब ओरसे ही इन्द्रियों को मोड़के॥
25 हो शान्त क्रमशः धीर मति से आत्म-सुस्थिर मन करे।
कोई विषय का फिर न किंचित् चित्त में चिन्तन करे॥
26 यह मन चपल अस्थिर जहां से भाग कर जाये परे।
रोके वहीं से और फिर आधीन आत्मा के करे॥
27 जो ब्रह्मभूत, प्रशान्त-मन, जन रज-रहित निष्पाप है।
उस कर्मयोगी को परम-सुख प्राप्त होता आप है॥
28 निष्पाप हो इस भांति जो करता निरन्तर योग है।
वह ब्रह्म-प्राप्ति-स्वरूप-सुख करता सदा उपभोग है।
29 युक्तात्म समदर्शी पुरुष सर्वत्र ही देखे सदा।
'मैं प्राणियों में और प्राणीमात्र मुझमें सर्वदा'॥
30 जो देखता मुझ में सभी को और मुझको सब कहीं।
मैं दूर उस नर से नहीं, वह दूर मुझसे है नहीं॥
31 एकत्व-मति से जान जीवों में मुझे नर नित्य ही।
भजता रहे जो, सर्वथा कर कर्म, मुझमें है वही॥
32 सुख दुःख अपना और औरों का समस्त समान है।
जो जानता अर्जुन वही योगी सदैव प्रधान है॥

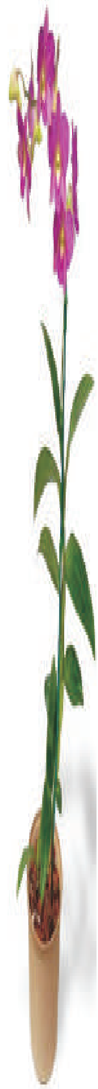

अर्जुन ने कहा -

33 जो साम्य-मति से प्राप्य तुमने योग मधुसूदन ! कहा।
मन की चपलता से महा अस्थिर मुझे वह दिख रहा॥
34 हे कृष्ण ! मन चञ्चल हठी बलवान् है, दृढ़ है घना।
मन साधना दुष्कर दिखे जैसे हवा का बांधना॥

श्रीमद्भगवद्गीता

आत्म उद्धार योग छठा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

35 चंचल असंशय मन महाबाहो ! कठिन साधन घना।
अभ्यास और विराग से पर पार्थ ! होती साधना।।
36 जीता न जो मन, योग है दुष्प्राप्य मत मेरा यही।
मन जीत कर जो यत्न करता प्राप्त करता है वही।।

अर्जुन ने कहा -

37 जो योग-विचलित, यत्न-हीन परन्तु श्रद्धावान् है।
पा योग-सिद्धि न, कौन गति पाता कहो भगवान् है ?
38 मोहित निराश्रय, ब्रह्म-पथ में हो उभय पथ-भ्रष्ट क्या।
वह बादलों सा छिन्न हो, होता सदैव विनष्ट क्या ?
39 हे कृष्ण ! करुणा कर सकल सन्देह मेरा मेटिये।
तज कर तुम्हें, है कौन यह भ्रम दूर करने के लिये ?

श्रीभगवान् ने कहा -

40 इस लोक में परलोक में वह नष्ट होता है नहीं।
कल्याणकारी-कर्म करने में नहीं दुर्गति कहीं।।
41 शुभ लोक पाकर पुण्यवानों का रहे वर्षों वहीं।
फिर योग-विचलित जन्मता श्रीमान् शुचि के घर कहीं।।
42 या जन्म लेता श्रेष्ठ ज्ञानी योगियों के वंश में।
दुर्लभ सदा संसार में है जन्म ऐसे अंश में।।
43 पाता वहां फिर पूर्व-मति-संयोग वह नर-रत्न है।
उस बुद्धि से फिर सिद्धि के करता सदैव प्रयत्न है।।
44 हे पार्थ ! पूर्वाभ्यास से खिंचता उधर लाचार हो।
हो योग इच्छुक वेद-वर्णित कर्मफल से पार हो।।
45 अति यत्न से वह योगसेवी सर्वपाप-विहीन हो।
बहु जन्म पीछे सिद्ध होकर परम-गति में लीन हो।।
46 सारे तपस्वी, ज्ञानियों से, कर्मनिष्ठों से सदा।
है श्रेष्ठ योगी, पार्थ ! हो इस हेतु योगी सर्वदा।।
47 सब योगियों में मानता मैं युक्ततम योगी वही।
श्रद्धा सहित मम ध्यान धर भजता मुझे जो नित्य ही।।

।। आत्म उद्धार योग छठा अध्याय समाप्त हुआ ।।

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञान विज्ञान योग सातवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

1 मुझमें लगा कर चित्त मेरे आसरे कर योग भी।
जैसा असंशय पूर्ण जानेगा मुझे वह सुन सभी॥
2 विज्ञानयुत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में।
जो जान कर कुछ जानना रहता नहीं संसार में॥
3 कोई सहस्रों मानवों में सिद्धि करना ठानता।
उन यत्नशीलों में मुझे कोई यथावत् जानता॥
4 पृथ्वी, पवन, जल, तेज, नभ, मन, अहंकार व बुद्धि भी।
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी॥
5 हे पार्थ ! यह ''अपरा'' प्रकृति का जान लो विस्तार है।
फिर है ''परा'' यह जीव जो संसार का आधार है॥
6 उत्पन्न दोनों से इन्हीं से जीव हैं जग के सभी।
मैं मूल सब संसार का हूं और मैं ही अन्त भी॥
7 मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है।
जिस भांति माला में मणी, मुझमें गुथा संसार है॥
8 आकाश में ध्वनि, नीर में रस, वेद में ओंकार हूँ।
पौरुष पुरुष में, चांद, सूरज में प्रभामय सार हूँ॥
9 शुभ गन्ध वसुधा में सदा, मैं प्राणियों में प्राण हूँ।
मैं अग्नि में हूँ तेज, तपियों में तपस्या ज्ञान हूँ॥
10 हे पार्थ ! जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ।
तेजस्वियों में तेज, बुध में बुद्धि का भंडार हूँ॥
11 हे पार्थ ! मैं कामादि राग-विहीन बल बलवान् का।
मैं काम भी हूँ धर्म के अविरुद्ध विद्यावान् का॥
12 सत और रज, तम भाव मुझसे ही हुए हैं ये सभी।
मुझमें सभी ये किन्तु मैं उनमें नहीं रहता कभी॥
13 इन त्रिगुण भावों में सभी भूला हुआ संसार है।
जाने न अव्यय-तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है॥
14 यह त्रिगुणदैवी घोरमाया अगम और अपार है।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है॥
15 पापी, नराधम, ज्ञान माया ने हरा जिनका सभी।
वे मूढ़ आसुर बुद्धि-वश मुझको नहीं भजते कभी॥
16 अर्जुन ! मुझे भजता सुकृति-समुदाय चार प्रकार का।
जिज्ञासु, ज्ञानीजन, दुखी-मन, अर्थ-प्रिय संसार का॥
17 नित-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ, जो मुझमें अनन्यासक्त है।
मैं क्योंकि ज्ञानी को परम प्रिय, प्रिय मुझे वह भक्त है॥

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञान विज्ञान योग सातवाँ अध्याय

18 ये श्रेष्ठ, पर मैं मानता मम प्राण ज्ञानी भक्त है।
वह युक्त हो, सर्वोच्च - गति मुझमें सदा आसक्त है।
19 जन्मान्तरों में जान कर, 'सब वासुदेव यथार्थ है'।
ज्ञानी मुझे भजता, सुदुर्लभ वह महात्मा पार्थ ! है॥
20 निज प्रकृति-प्रेरित, कामना द्वारा हुए हत ज्ञान से।
कर नियम भजते विविध विध नर अन्य देव विधान से॥
21 जो जो कि जिस जिस रूप की पूजा करे नर नित्य ही।
उस भक्त की करता उसी में, मैं अचल श्रद्धा वही॥
22 उस देवता को पूजता फिर वह, वही श्रद्धा लिये।
निज इष्ट-फल पाता सकल, निर्माण जो मैंने किये॥
23 ये मन्दमति नर किन्तु पाते, अन्तवत फल सर्वदा।
सुर-भक्त सुर में, भक्त मेरे, आमिलें मुझमें सदा॥
24 अव्यक्त मुझको व्यक्त, मानव मूढ़ लेते मान हैं।
अविनाशि अनुपम भाव मेरा वे न पाते जान हैं॥
25 निज योग-माया से ढका सबको न मैं दिखता कहीं।
अव्यय अजन्मा मैं, मुझे पर मूढ़ नर जानें नहीं॥
26 होंगे, हुए हैं, जीव जो मुझको सभी का ज्ञान है।
इनको किसी को किन्तु कुछ मेरी नहीं पहिचान है॥
27 उत्पन्न इच्छा द्वेष से, जो द्वन्द्वजग में व्याप्त हैं।
उनसे परंतप ! सर्व प्राणी मोह करते प्राप्त हैं॥
28 पर पुण्यवान् मनुष्य जिनके छुट गये सब पाप हैं।
वे द्वन्द्व-मोह-विहीन, दृढ़ भजते मुझे फिर आप हैं॥
29 करते ममाश्रित जो जरा-मृति-मोक्ष के हित साधना।
वे जानते हैं ब्रह्म, सब अध्यात्म, कर्म महामना॥
30 अधि-भूत, दैव व यज्ञ-युत, जो विज्ञ मुझको जानते।
वे युक्त-चित मरते समय में भी मुझे पहिचानते॥

॥ ज्ञान विज्ञान योग सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

अक्षर ब्रह्म योग आठवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा -

1 हेकृष्ण ! क्या वह ब्रह्म ?क्या अध्यात्म है ?क्या कर्म है ?
अधिभूत कहते हैं किसे ?अधिदैव का क्या मर्म है ?
2 अधियज्ञ कैसा है कहो ?अधिदेह किसको मानते ?
मरते समय कैसे जितेन्द्रिय जन तुम्हें पहिचानते ?

श्रीभगवान् ने कहा -

3 अक्षर परम वह ब्रह्म है, अध्यात्म जीव सुमर्म है।
जो भूतभावोद्भव करे वह त्याग जानो कर्म है॥
4 अधिभूत नश्वर भाव है, चेतन पुरुष अधिदैव ही।
अधियज्ञ मैं सब प्राणियों के देह बीच सदैव ही॥
5 तन त्यागता जो अन्त में मेरा मनन करता हुआ।
मुझमे असंशय नर मिले वह ध्यान यों धरता हुआ॥
6 अन्तिम समय तन त्यागता जिस भाव से जन व्याप्त हो।
उसमें रँगा रहकर सदा, उस भाव ही को प्राप्त हो॥
7 इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही सुमर, कर युद्ध भी।
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मुझमें धर सभी॥
8 अभ्यास-बल से युक्त योगी चित्त अपना साधके।
उत्तम पुरुष को प्राप्त होता है उसे आराधके॥
9 सर्वज्ञ शास्ता सूक्ष्मतम आदित्य-सम तम से परे।
जो नित अचिन्त्य अनादि सर्वाधार का चिन्तन करे॥
10 कर योग-बल से प्राण भृकुटी मध्य अन्तिम काल में।
निश्चल हुआ वह भक्त मिलता दिव्य पुरुष विशाल में॥
11 अक्षर कहें वेदज्ञ, जिसमें राग तज यति जन जमें।
हों ब्रह्मचारी जिस लिये, वह पद सुनो संक्षेप में॥
12 सब इन्द्रियों को साध कर निश्चल हृदय में मन धरे।
फिर प्राण मस्तक में जमा कर धारणा योगी करे॥
13 धरता हुआ फिर ध्यान मेरा, ॐ एकाक्षर कहे।
तन त्याग कर इस भांति जो जाता परम शुभ गति गहे॥
14 भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से।
नित-युक्त योगी वह मुझे पाता सरल सी रीति से॥
15 पाए हुए हैं सिद्धि-उत्तम जो महात्मा-जन सभी।
पाकर मुझे दुख-धाम नश्वर-जन्म नहिं पाते कभी॥
16 विधिलोक तक जाकर पुनः जन जन्म पाते हैं यहीं।
पर पा गए अर्जुन ! मुझे वे जन्म फिर पाते नहीं॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अक्षर ब्रह्म योग आठवाँ अध्याय

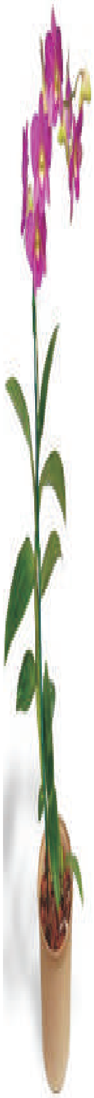

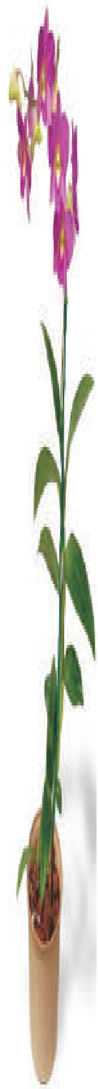

17 दिन-रात ब्रह्मा की, सहस्रों युग बड़ी जो जानते।
वे ही पुरुष दिन-रैन की गति ठीक हैं पहिचानते॥
18 जब हो दिवस अव्यक्त से सब व्यक्त होते हैं तभी।
फिर रात्रि होते ही उसी अव्यक्त में लय हों सभी॥
19 होता विवश सब भूत-गण उत्पन्न बारम्बार है।
लय रात्रि में होता दिवस में जन्म लेता धार है॥
20 इससे परे फिर और ही अव्यक्त-नित्य-पदार्थ है।
सब जीव विनशे भी, नहीं वह नष्ट होता पार्थ है॥
21 कहते परमगति हैं जिसे अव्यक्त अक्षर नाम है।
पाकर जिसे लौटें न फिर मेरा वही पर धाम है॥
22 सब जीव जिसमें हैं सकल संसार जिससे व्याप्त है।
वह पर-पुरुष होता अनन्य सुभक्ति से ही प्राप्त है॥
23 वह काल सुन, तन त्याग जिसमें लौटते योगी नहीं।
वह भी कहूँगा काल जब मर लौट कर आते यहीं॥
24 दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्लपख, षट् उत्तरायण मास में।
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी, ब्रह्म ही के पास में॥
25 निशि धूम्र में मर कृष्ण पख, षट् दक्षिणायन मास में।
नर चन्द्रलोक विशाल में बस फिर फंसें भव-त्रास में॥
26 ये शुक्ल, कृष्ण सदैव दो गति वि श्व की ज्ञानी कहें।
दे मुक्ति पहली, दूसरी से लौट फिर जग में रहें॥
27 ये मार्ग दोनों जान, योगी मोह में पड़ता नहीं।
इस हेतु अर्जुन ! योग-युत सब काल में हो सब कहीं॥
28 जो कुछ कहा है पुण्यफल, मख वेद से तप दान से।
सब छोड़ आदिस्थान ले, योगी पुरुष इस ज्ञान से॥

॥ अक्षरब्रह्मयोग आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

परम गुह्य राजविद्या योग नवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

1 अब दोषदर्शी तू नहीं यों, गुप्त, सह-विज्ञान के।
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जो जान के।।
2 यह राजविद्या, परम-गुप्त, पवित्र, उत्तम-ज्ञान है।
प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्मयुत, अव्यय, सरल, सुख-खान है।।
3 श्रद्धा न जिनको पार्थ है इस धर्म के शुभ सार में।
मुझको न पाकर लौट आते मृत्युमय संसार में।।
4 अव्यक्त अपने रूप से जग व्याप्त मैं करता सभी।
मुझमें सभी प्राणी समझ, पर मैं नहीं उनमें कभी।।
5 मुझमें नहीं हैं भूत, देखो योग-शक्ति-प्रभाव है।
उत्पन्न करता पालता उनसे न किन्तु लगाव है।।
6 सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भांति से।
मुझ में सदा ही हैं समझ सब भूतगण इस भांति से।।
7 कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी।
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हें रचता तभी।।
8 अपनी प्रकृति आधीन कर इस भूतगण को मैं सदा।
उत्पन्न बारम्बार करता, जो प्रकृतिवश सर्वदा।।
9 बंधता नहीं हूं पार्थ ! मैं इस कर्म-बन्धन में कभी।
रहकर उदासी-सा सदा आसक्ति बिन करता सभी।।
10 अधिकार से मेरे प्रकृति रचती चराचर वि श्व है।
इस हेतु फिरकी की तरह फिरता बराबर वि श्व है।।
11 मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहिं जान के।
करते अवज्ञा जड़, मुझे नर देहधारी मान के।।
12 चित भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किये।
वे आसुरी अति राक्षसीय स्वभाव मोहात्मक लिये।।
13 दैवी प्रकृति के आसरे बुध-जन भजन मेरा करें।
भूतादि अव्यय जान पार्थ ! अनन्य मन से मन धरें।।
14 नित यत्न से कीर्तन करें दृढ़व्रत सदा धरते हुए।
करते भजन हैं भक्ति से मम वन्दना करते हुए।।
15 कुछ भेद और अभेद से कुछ ज्ञान-यज्ञ विधान से।
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतोमुख ध्यान से।।
16 मैं यज्ञ श्रोतस्मार्त हूँ एवं स्वधा आधार हूँ।
घृत और औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ।।
17 जग का पिता माता पितामह विश्व-पोषण-हार हूँ।
ऋक्स ामय जुश्र ुति,ज ाननेक`य ेग्यश ुचिअ ेंकारह ूँ।।

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

परम गुह्य राजविद्या योग नवाँ अध्याय

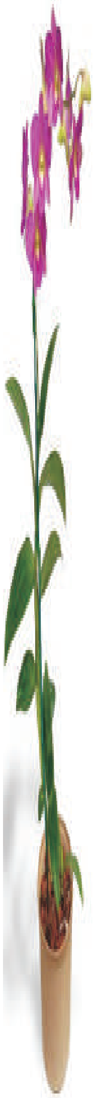

18 पोषक प्रलय उत्पत्ति गति आधार मित्र निधान हूँ।
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय मैं निवासस्थान हूँ॥
19 मैं ताप देता, रोकता जल, वृष्टि मैं करता कभी।
मैं ही अमृत भी मृत्यु भी मैं सत् असत् अर्जुन ! सभी॥
20 जो सोमपा त्रैविद्य-जन निष्पाप अपने को किये।
कर यज्ञ मुझको पूजते हैं स्वर्ग इच्छा को लिये॥
वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का, सुरवर्ग में।
फिर दिव्य देवों के अनेकों भोग भोगें स्वर्ग में॥
21 वे भोग कर सुख-भोग को, उस स्वर्गलोक विशाल में।
फिर पुण्य बीते आफँसें इस लोक के दुख जाल में॥
यों तीन वेदों में कहे जो कर्म-फल में लीन हैं।
वे कामनाप्रिय-जन सदा अवागमन आधीन हैं॥
22 भजते मुझे जो नित्य योगी-जन अनन्यासक्त हो।
उनका करूं मैं योग-क्षेम सदैव ही अनुरक्त हो॥
23 जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा-लीन हो।
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ ?पर विधिहीन हो॥
24 सब यज्ञ-भोक्ता विश्व-स्वामी पार्थ हूँ मैं ही सभी।
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से गिरते तभी॥
25 सुरभक्त सुर को पितृ को पाते पितर-अनुरक्त हैं।
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं॥
26 अर्पणा करें जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से।
लेता प्रयत-चित्त भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से॥
27 कौन्तेय ! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी।
नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी॥
28 हे पार्थ ! यों शुभ-अशुभ-फल-प्रद कर्म-बन्धन-मुक्त हो।
मुझमें मिलेगा मुक्त हो, संन्यास-योग-नियुक्त हो॥
29 द्वेषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा।
पर भक्त मुझमें बस रहा, मैं भक्त के मनमें बसा॥
30 यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये।
है ठीक निश्चयवान् उसको साधु कहना चाहिये॥
31 वह धर्मयुत हो शीघ्र शाश्वत शान्ति पाता है यहीं।
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं॥
32 पाते परम-पद पार्थ ! पाकर आसरा मेरा सभी।
जो अड़ रहे हैं पाप-गति में वैश्य वनिता शूद्र भी॥

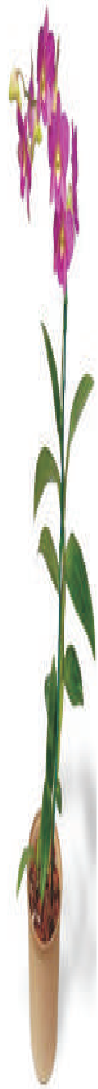

श्रीमद्भगवद्गीता

परम गुह्य राजविद्या योग नवाँ अध्याय

33 फिरर ाज-ऋषिप ुण्यात्मब्राह्मणभ ाक्तक ीि याब ातह ै।
मेरा भजन कर, तू दुखद नश्वर जगत् में तात है॥
34 बन भक्त मेरा मन लगा, कर यजन वन्दन नेम से।
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त होकर प्रेम से॥

॥ परमगुह्य राजविद्यायोग नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्री गीता जी की दिव्यता

(ब्रह्मलीन स्वामी श्री गीतानन्द जी महाराज)

गीता तो सागर समान,
मोती हैं जिसमें भरे।
गोता विरला ही लगाता,
भाग्य हैं जिसके जगे।

ज्ञान, भक्ति, कर्म के,
हीरे हैं जिसमें भरे।
माल-ओ-माल उसको करे
शरण में जो आ पड़े॥
वो ही जाने इसकी कीमत,
चाट यह जिस मुँह लगे॥
गीता तो सागर समान ....

चाहे पापी हो या वो,
उनका भी सरदार हो।
किन्तु गीता-ज्ञान की,
नैया पर सवार हो।
शान से फिर क्यों न उसकी,
नाव भव-जल से तरे॥
गीता तो सागर समान ....

कृष्ण का आदेश इसमें,
कृष्ण का संदेश है।
जगत्-गुरू श्री कृष्ण का,
लासानी यह उपदेश है।
'माम् एकम् शरणम् ब्रज',
दर्द-ओ-गम तेरे सारे भगें।
गीता तो सागर समान ....

यह है पारस की छड़ी,
संग इसके जो लगे।
लोहे को सोना करे,
भाग्य सोया फिर जगे।
कितने ही सिक्के किये हैं,
इसने खोटे से खरे॥
गीता तो सागर समान ....

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

विभूति योग दसवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

1 मेरे परम शुभ सुन महाबाहो ! वचन अब और भी।
तू प्रिय मुझे, तुझसे कहूँगा बात हित की मैं सभी॥
2 उत्पत्ति देव महर्षिगण मेरी न कोई जानते।
सब भांति इनका आदि हूँ मैं यों न ये पहिचानते॥
3 जो जानता मुझको अजन्म अनादि लोके श्वर सही।
ज्ञानी मनुष्यों में सदा सब पाप से छुटता वही॥
4 सद्बुद्धि ज्ञान अमूढ़ता सुख दुःख एवं भय अभय।
इन्द्रियदमन मन-शमन सत्य क्षमा तथा उत्पत्ति लय॥
5 समता अहिंसा तुष्टि तप एवं अयश यश दान भी।
उत्पन्न मुझसे प्राणियों के भाव होते हैं सभी॥
6 मनु और सप्त-महर्षिगण उनके प्रथम के चार भी।
मम भाव-मानस से हुए, उत्पन्न उनसे जन सभी॥
7 जो जानता मेरी विभूति व योग-शक्ति यथार्थ है।
संशय नहीं दृढ़-योग वह नर प्राप्त करता पार्थ ! है॥
8 मैं जन्मदाता हूं सभी मुझसे प्रवर्तित तात हैं।
यह जान ज्ञानी भक्त भजते भाव से दिन-रात हैं॥
9 मुझमें लगा कर प्राण, मन, करते हुए मेरी कथा।
करते परस्पर बोध रमते तुष्ट रहते सर्वथा॥
10 इस भाँति होकर युक्त जो नर नित्य भजते प्रीति से।
मति-योग ऐसा दूँ मुझे वे पा सकें जिस रीति से॥
11 उनके हृदय में बैठ पार्थ ! कृपार्थ अपने ज्ञान का।
दीपक जलाकर नाश करता तम सभी अज्ञान का॥

अर्जुन ने कहा -

12 तुम परम-ब्रह्म पवित्र एवं परम-धाम अनूप हो।
हो आदिदेव अजन्म अविनाशी अनन्त स्वरूप हो॥
13 नारद महामुनि असित देवल व्यास ऋषि कहते यही।
मुझसे स्वयं भी आप हे जगदीश ! कहते हो वही॥
14 केशव ! कथन सारे तुम्हारे सत्य ही मैं मानता।
हे हरि ! तुम्हारी व्यक्ति सुर दानव न कोई जानता॥
15 हे भूतभावन भूतईश्वर देवदेव जगत्पते।
तुम आप पुरुषोत्तम स्वयं ही आपको पहिचानते॥
16 जिन-जिन महान् विभूतियों से व्याप्त हो संसार में।
वे दिव्य आत्म-विभूतियां बंतलाइये विस्तार में॥

श्रीमद्भगवद्गीता

विभूति योग दसवाँ अध्याय

17 चिन्तन सदा करता हुआ कैसे तुम्हें पहिचान लूँ।
किन किन पदार्थों में करूं चिन्तन तुम्हारा जान लूँ॥
18 भगवन् ! कहो निज योग और विभूतियां विस्तार से।
भरता नहीं मन आपकी वाणी सुधामय धार से॥

श्रीभगवान् ने कहा –

19 कौन्तेय ! दिव्य विभूतियां मेरी अनन्त अशेष हैं।
अब मैं बताऊँगा तुझे जो जो विभूति विशेष हैं।
20 मैं सर्वजीवों के हृदय में अन्तरात्मा पार्थ ! हूँ।
सब प्राणियों का आदि एवं मध्य अन्त यथार्थ हूँ॥
21 आदित्यगण में विष्णु हूँ, सब ज्योति बीच दिनेश हूँ।
नक्षत्र में राकेश, मरुतों में मरीचि विशेष हूँ॥
22 मैं साम वेदो में तथा सुरवृन्द बीच सुरेन्द्र हूँ।
मैं शक्ति चेतन जीव में, मन इन्द्रियों का केन्द्र हूँ॥
23 शिव सकल रुद्रों बीच, राक्षस यक्ष बीच कुबेर हूँ।
मैं अग्नि वसुओं में, पहाड़ों में पहाड़ सुमेर हूँ॥
24 मुझको बृहस्पति पार्थ ! मुख्य पुरोहितों में जान तू।
सेनानियों में स्कन्द, सागर सब सरों में मान तू॥
25 भृगु श्रेष्ठ ऋषियों में, वचन में मैं सदा ॐकार हूँ।
सब थावरों में गिरि हिमालय, यज्ञ में जप-सार हूँ॥
26 मुनि कपिल सिद्धों बीच, नारद देव-ऋषियों में कहा।
गन्धर्वगण में चित्ररथ, तरु-वर्ग में पीपल महा॥
27 उच्चैःश्रवा सारे हयों में, अमृत-जन्य अनूप हूँ।
मैं हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत, नरों में भूप हूँ॥
28 सुरधेनु गौओं में, भुजंगों बीच वासुकि सर्प हूँ।
मैं वज्र शस्त्रों में, प्रजा उत्पत्ति-कर कन्दर्प हूँ॥
29 मैं पितर-गण में, अर्यमा हूँ, नाग-गण में शेष हूँ।
यम शासकों में, जलचरों में वरुण रूप विशेष हूँ॥
30 प्रहलाद दैत्यों बीच, संख्या-सूचकों में काल हूँ।
मैं पक्षियों में गरुड़, पशुओं में मृगेन्द्र विशाल हूँ॥
31 गंगा नदों में, शस्त्र-धारी-वर्ग में मैं राम हूँ।
मैं पवन वेगों बीच, मीनों में मगर अभिराम हूँ॥
32 मैं आदि हूँ मध्यान्त हूँ हे पार्थ ! सारे सर्ग का।
विद्यागणों में ब्रह्मविद्या, वाद वादी-वर्ग का॥
33 सारे समासों बीच द्वन्द्व, अकार वर्णों में कहा।
मैं काल अक्षय और अर्जुन ! विश्वमुख धाता महा॥

श्रीमद्भगवद्गीता

विभूति योग दसवाँ अध्याय

34 मैं सर्वहर्ता मृत्यु, सबका मूल जो होंगे अभी।
तिय वर्ग में मेधा क्षमा धृति कीर्ति सुधि श्री वाक् भी॥
35 हूँ साम में मैं बृहत्साम, बसन्त ऋतुओं में कहा।
मंगसिर महीनों बीच, गायत्री सुछन्दों में महा॥
36 तेजस्वियों का तेज हूं मैं, और छलियों में जुआ।
जय और नि श्चय, सत्व सारे सत्वशीलों का हुआ॥
37 सब वृष्णियों में वासुदेव व शुक्र कवियों में कहा।
मैं हूं धनंजय पाण्डवों में, व्यास मुनियों में महा॥
38 मैं शासकों का दण्ड, विजयी की सुनीति प्रधान हूँ।
हूं मौन गुह्यों में सदा, मैं ज्ञानियों का ज्ञान हूँ॥
39 इस भांति प्राणीमात्र का जो बीज है मैं हूँ सभी।
मेरे बिना अर्जुन ! चराचर है नहीं कोई कभी॥
40 हे पार्थ ! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अपार हैं।
कुछ कह दिये दिग्दर्शनार्थ विभूति के विस्तार हैं॥
41 जो-जो जगत में वस्तु, शक्ति विभूति श्रीसम्पन्न हैं।
वे जान मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न हैं॥
42 विस्तार से क्या काम तुमको जान लो यह सार है।
इस एक मेरे अंश से व्यापा हुआ संसार है॥

॥ विभूतियोग दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

विश्वरूप दर्शन योग ग्यारहवाँ अध्याय

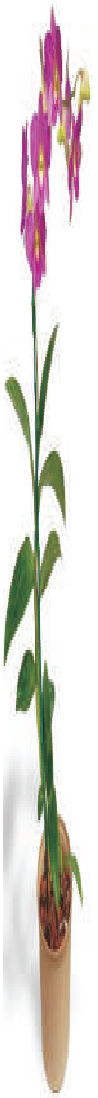

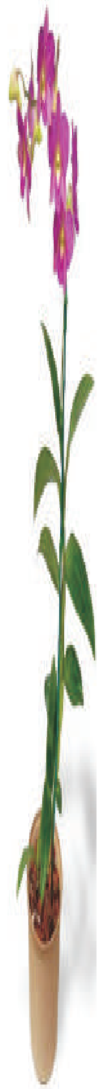

अर्जुन ने कहा –

1 उपदेश यह अति गुप्त जो तुमने कहा करके दया।
अध्यात्म विषयक ज्ञान से सब मोह मेरा मिट गया॥
2 विस्तार से सब सुन लिया उत्पत्ति लय का तत्त्व है।
मैंने सुना सब आपका अक्षय अनन्त महत्त्व है॥
3 जगदीश ! अपने को कहा है आपने जैसा वही।
मैं चाहता हूं देखना ऐ श्वर्ययुक्त स्वरूप ही॥
4 समझें प्रभो यदि आप, मैं वह देख सकता हूं सभी।
तो वह मुझे योगेश ! अव्यय रूप दिखलादो अभी॥

श्रीभगवान् ने कहा –

5 हे पार्थ ! देखो दिव्य अनुपम विविध वर्णाकार के।
शतशत सहस्रों रूप मेरे भिन्न-भिन्न प्रकार के॥
6 सब देख ! रुद्र वसु अश्विन मरुत आदित्य भी।
आश्चर्य देख अनेक अब पहले न देखे जो कभी॥
7 इस देह में एकत्र सारा जग चराचर देखले।
जो और चाहे देखना इसमें बराबर देखले॥
8 मुझको न अपनी आँख से तुम देख पाओगे कभी।
मैं दिव्य देता दृष्टि, देखो योग का वैभव सभी॥

संजय ने कहा –

9 जब पार्थ से श्रीकृष्ण ने इस भांति हे राजन् ! कहा।
तब ही दिया ऐ श्वर्य-युक्त स्वरूप का दर्शन महा॥
10 मुख नयन थे उसमें अनेकों ही अनोखा रूप था।
पहिने अनेकों दिव्य गहने शस्त्र साज अनूप था॥
11 सीमा रहित अद्भुत महा वह वि श्वतोमुख रूप था।
धारण किये अति दिव्य माला वस्त्र गन्ध अनूप था॥
12 नभ में सहस रवि मिल उदय हों प्रभापुञ्ज महान् हो।
तब उस महात्मा कान्ति के कुछ कुछ प्रकाश समान हो॥
13 उस देवदेव शरीर में देखा धनंजय ने तभी।
बांटा विविध विध से जगत एकत्र उसमें है सभी॥
14 रोमांच तन में हो उठा आ श्चर्य से मानो जगे।
तब यों धनंजय सिर झुका, कर जोड़ कर कहने लगे॥

अर्जुन ने कहा –

15 भगवन् ! तुम्हारी देह में मैं देखता सुर-गण सभी।
मैं देखता हूं देव ! इसमें प्राणियों का संघ भी॥

श्रीमद्भगवद्गीता

विश्वरूप दर्शन योग ग्यारहवाँ अध्याय

शुभ कमल आसन पर इसी में ब्रह्मदेव विराजते।
मैं देखता इसमें सकल ऋषि, दिव्य पन्नग साजते॥
16 बहु बाहु इसमें हैं अनेकों ही उदरमय रूप है।
मुख और आंखें हैं अनेकों हरि स्वरूप अनूप है॥
दिखता न विश्वेश्वर ! तुम्हारा आदि मध्य न अन्त है।
मैं देखता सब ओर छाया विश्वरूप अनन्त है॥
17 पहिने मुकुट मञ्जुल, गदा, शुभ चक्र धरते आप हैं।
हो तेज-निधि सारी दिशा दैदीप्त करते आप हैं॥
तुम दुर्निरीक्ष्य महान् अपरम्पार है भगवान् हो।
सब ओर दिखते दीप्त अग्नि दिनेश सम द्युतिवान् हो॥
18 तुम जानने के योग्य अक्षरब्रह्म अपरम्पार हो।
जगदीश सारे वि श्व मंडल के तुम्हीं आधार हो॥
अव्यय सनातन धर्म के रक्षक सदैव महान् हो।
मेरी समझ से तुम सनातन पुरुष हे ! भगवान् हो॥
19 नहिं आदि मध्य न अन्त और अनन्त बल-भंडार है।
शशि-सूर्य रूपी नेत्र और अपार भुज-विस्तार है॥
प्रज्वलित अग्नि प्रचण्ड मुख में देखता मैं धर रहे।
संसार सारा तप्त अपने तेज से हरि कर रहे॥
20 नभ भूमि अन्तर सब दिशा इस रूप से तुम व्यापते।
यह उग्र अद्भुत रूप लखि त्रैलोक्य थर-थर कांपते॥
21 ये आप ही में देव-वृन्द प्रवेश करते जा रहे।
डरते हुए कर जोड़ जय-जय देव शब्द सुना रहे॥
सब सिद्ध-संघ महर्षिगण भी स्वस्ति कहते आ रहे।
पढ़ कर विविध विध स्तोत्र स्वामी आपके गुण गारहे॥
22 सब रुद्रगण आदित्य वसु हैं साध्यगण सारे खड़े।
सब पितर वि श्वेदेव अ श्वन और सिद्ध बड़े-बड़े॥
गन्धर्वगण राक्षस मरुत समुदाय एवं यक्ष भी।
मन में चकित होकर हरे ! वे देखते तुमको सभी॥
23 बहु नेत्र मुखमय अतिविशाल स्वरूप यह भगवान् है।
जंघा चरण बहु बाहुयुत हे महाबाहु ! महान है॥
बहु उदर हैं हरि और बहु विकराल डाढें हैं महा।
सब लोक लखि भयभीत भगवन् ! भय मुझे भी हो रहा॥
24 यह गगनचुंभी जगमगाता हरि ! अनेकों रंग का।
आंखें बड़ी बलती, खुला मुख भी अनोखे ढंग का॥

श्रीमद्भगवद्गीता

विश्वरूप दर्शन योग ग्यारहवाँ अध्याय

यह देख ऐसा रूप मैं मन में हरे ! घबरा रहा।
नहि धैर्य्य धर पाता, न भगवन् ! शान्ति भी मैं पा रहा॥
25 डाढ़ें भयंकर देख पड़ता मुख महाविकराल है।
मानो धधकती यह प्रलय-पावक प्रचण्ड विशाल है॥
सुख है न ऐसे देख मुख भूला दिशायें भी सभी।
देवेश जग-आधार ! हे भगवन् ! करो करुणा अभी॥
26 धृतराष्ट्र-सुत सब साथ उनके ये नृपति-समुदाय भी।
श्री भीष्म द्रोणाचार्य कर्ण प्रधान अपने भट सभी॥
27 विकराल डाढ़ों युत भयानक आपके मुख में हरे।
अतिवेग से सब दौड़ते जाते धड़ाधड़ हैं भरे॥
ये दिख रहे कुछ दांत में लटके हुए रण-शूर हैं।
इस डाढ़ में पिस कर अभी जिनके हुए शिर चूर हैं॥
28 जिस भांति बहु सरिता प्रवाह समुद्र प्रति जाते बहे।
ऐसे तुम्हारे ज्वाल - मुख में वेग से नर जा रहे॥
29 जिस भांति जलती ज्वाल में जाते पतङ्गे वेग से।
यों मृत्यु हित ये नर, मुखों मे आपके जाते धसे॥
30 सब ओर से इस ज्वालमय मुख में नरों को धर रहे।
देवेश ! रसना चाटते भक्षण सभी का कर रहे॥
विष्णो ! प्रभाएँ आपकी अति उग्र जग में छा रहीं।
निज तेज से संसार सारा ही सुरेश ! तपा रहीं॥
31 तुम उग्र अद्भत रूपधारी कौन हो बतलाइये।
हे देवदेव ! नमामि देव ! प्रसन्न अब हो जाइये।
तुम कौन आदि स्वरूप हो, यह जानना मैं चाहता।
कुछ भी न मुझको आपकी इस दिव्य करनी का पता॥

श्रीभगवान् ने कहा -

32 मैं काल हूँ सब लोक-नाशक उग्र अपने को किये।
आया यहां संसार का संहार करने के लिये॥
तू हो न हो तो भी धनंजय ! देख बिन तेरे लड़े।
ये नष्ट होंगे वीरवर योधा बड़े सब जो खड़े॥
33 अतएव उठ रिपुदल-विजय कर प्राप्त कर सम्मान को।
फिर भोग इस धन धान्य से परिपूर्ण राज्य महान् को॥
हे पार्थ ! मैंने वीर ये सब मार पहले ही दिये।
आगे बढ़ो तुम युद्ध में बस नाम करने के लिये॥

श्रीमद्भगवद्गीता

विश्वरूप दर्शन योग ग्यारहवाँ अध्याय

34 श्री भीष्म द्रोण तथा जयद्रथ कर्ण योधा और भी।
जो वीरवर हैं मार पहिले ही दिये मैंने सभी॥
अब मार इन मारे हुओं को, वीरवर व्याकुल न हो।
कर युद्ध रण में शत्रुओं को पार्थ ! जीतेगा अहो॥

संजय ने कहा -

35 तब मुकुटधारी पार्थ सुन केशव - कथन इस रीति से।
अपने उभय कर जोड़ कर कंपते हुए भयभीत से॥
नमते हुए, गद्गद गले से, और भी डरते हुए।
श्री कृष्ण से बोले वचन यों वन्दना करते हुए॥

अर्जुन ने कहा -

36 होता जगत अनुरक्त हर्षित आपका कीर्तन किये।
सब भागते राक्षस दिशाओं मे तुम्हारा डर लिये॥
नमता तुम्हें सब सिद्ध-संघ सुरेश ! बारम्बार है।
हे हृषीकेश ! समस्त ये उनका उचित व्यवहार है॥

37 तुम ब्रह्म के भी आदिकारण और उनसे श्रेष्ठ हो।
फिर हे महात्मन् ! आपकी यों वन्दना कैसे न हो॥
संसार के आधार हो, हे देवदेव ! अनन्त हो।
तुम सत्, असत् इनसे परे अक्षर तुम्हीं भगवन्त हो॥

38 भगवन् ! पुरातन पुरुष हो तुम विश्व के आधार हो।
हो आदि देव तथैव उत्तम धाम अपरम्पार हो॥
ज्ञाता तुम्हीं हो जानने के योग्य भी भगवन्त हो।
संसार में व्यापे हुए हो देवदेव ! अनन्त हो॥

39 तुम वायु यम पावक वरुण एवं तुम्हीं राकेश हो।
ब्रह्मा तथा उनके पिता भी आप ही अखिलेश हो॥
हे देवदेव ! प्रणाम देव ! प्रणाम सहसों बार हो।
फिर फिर प्रणाम ! प्रणाम ! नाथ प्रणाम ! बारम्बार हो॥

40 सानन्द सन्मुख और पीछे से प्रणाम सुरेश हो।
हरि बार - बार प्रणाम चारों ओर से सर्वेश हो॥
है वीर्य्य शौर्य्य अनन्त, बलधारी अतुल बलवन्त हो।
व्यापे हुए सब में इसी से "सर्व" हे भगवन्त ! हो॥

41 तुमको समझ अपना सखा जाने बिना महिमा महा।
यादव ! सखा ! हे कृष्ण ! प्यार प्रमाद या हठ से कहा॥

42 हे हरि ! हंसाने के लिये आहार और विहार में।
सोते अकेले बैठते सबमें किसी व्यवहार में॥

श्रीमद्भगवद्गीता

विश्वरूप दर्शन योग ग्यारहवाँ अध्याय

सबकी क्षमा मैं मांगता जो कुछ हुआ अपमान हो।
संसार में तुम अतुल अपरम्पार हे भगवान् हो।।
43 सारे चराचर के पिता बस आप ही भगवान् हो।
हरि आप गुरुओं के गुरु अति पूज्य और महान् हो।।
त्रैलोक्य में तुमसा हरे ! कोई कहीं भी है नहीं।
अनुपम अतुल्य प्रभाव बढ़कर कौन फिर होगा कहीं।।
44 इस हेतु वन्दन-योग्य ईश ! शरीर चरणों में किये।
मैं आपको करता प्रणाम प्रसन्न करने के लिये।।
ज्यों तात सुत के, प्रिय प्रिया के, मित्र सहचर अर्थ हैं।
अपराध मेरा आप त्योंही सहन हेतु समर्थ हैं।।
45 इस रूप को हरि ! देख कर, पहले न जो देखा कभी।
हर्षित हुआ मैं किन्तु भय से है विकल भी मन अभी।।
देवेश ! वि श्वाधार ! देव ! प्रसन्न अब हो जाइये।
हे नाथ ! पहला रूप ही अपना मुझे दिखलाइये।।
46 मैं चाहता हूँ देखना तुमको मुकुट धारण किये।
हे सहस बाहो ! शुभ करों में चक्र और गदा लिये।।
हे विश्वमूर्ते ! फिर मुझे वह सौम्य दर्शन दीजिये।
वह ही चतुर्भज रूप हे देवेश ! अपना कीजिये।।

श्रीभगवान् ने कहा -

47 हे पार्थ ! परम प्रसन्न हो तुझ पर अनुग्रह-भाव से।
मैंने दिखाया विश्वरूप महान योग-प्रभाव से।।
यह परम तेजोमय विराट अनन्त आदि अनूप है।
तेरे सिवाय न और ने देखा कभी यह रूप है।।
48 हे कुरु-प्रवीर ! न वेद से, स्वाध्याय, यज्ञ न दान से।
दिखता नहीं मैं उग्र तप या क्रिया कर्म-विधान से।।
मेरा विराट् स्वरूप इस नर-लोक में अर्जुन ! कहीं।
अतिरिक्त तेरे और कोई देख पाता है नहीं।।
49 यह घोर - रूप निहार कर मत मूढ़ और अधीर हो।
फिर रूप पहला देख, भय तज तुष्ट मन में वीर हो।।

संजय ने कहा -

50 यों कह, दिखाया रूप अपना सौम्य तन फिर धर लिया।
भगवान् ने भयभीत व्याकुल पार्थ को धीरज दिया।।

अर्जुन ने कहा -

51 यह सौम्य नर-तन देख भगवन् ! मन ठिकाने आ गया।
जिस भांति पहले था वही अपनी अवस्था पा गया।।

श्रीमद्भगवद्गीता

विश्वरूप दर्शन योग ग्यारहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

52 हे पार्थ ! दुर्लभ रूप यह जिसके अभी दर्शन किये।
सुर भी तरसते हैं इसीकी लालसा मन में लिये॥
53 दिखता न मैं तप, दान अथवा यज्ञ, वेदों से कहीं।
देखा जिसे तूने उसे नर देख पाते हैं नहीं॥
54 हे पार्थ ! एक अनन्य मेरी भक्ति से सम्भव सभी।
यह ज्ञान, दर्शन, और मुझमें तत्त्व जान प्रवेश भी॥
55 मेरे लिये जो कर्म-तत्पर, नित्य मत्पर, भक्त है।
पाता मुझे वह जो सभी से वैर-हीन विरक्त है।

॥ विश्वरूप दर्शन योग ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

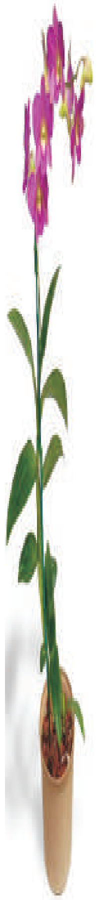

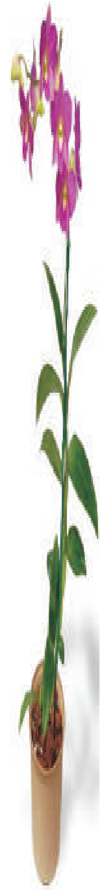

यह जन्म तेरा किसलिए

(गीता मनीषी स्वामी श्री ज्ञानानन्द जी महाराज)

श्रेय और प्रेय ये मार्ग हैं दो संसार में।
हैर ास्ताश्र`यज्ञ ानक ा,अ ज्ञानम`ंल`ज ायेप्र`य॥
ज्ञान बुद्धिमान लें, अविद्या में मूढ़ ही जिये।
सोच ले अब तू स्वयं, यह जन्म तेरा किसलिए॥

दु:खों में ही घुल-मरे, नहीं यह तुझे वाजिब कभी।
आनन्दमय स्वरूप तेरा, हो रहा फिर क्यों दु:खी?
तेरा ही है अज्ञान जिसने दु:ख तुझे इतने दिये।
ज्ञान लेकर देख तू, है जन्म तेरा किसलिए?

धन-मान-प्रतिष्ठाक`म दम`ंइ तनाम ाेहितह ाेग या।
तूक ानेह ै ,अ ायाक हाँस` ,६ यानय हभ ीन र हा॥
इनके लिये जीवन में तूने पाप क्या-क्या न किये।
सोच न इतना भी कभी, यह जन्म तेरा किसलिए?

पढ़ा कमाने के लिए, कमाया सभी खाने को ही।
बना रहे जीवन मेरा, खाने का मतलब था यही॥
पढ़ना-कमाना-खाना, है गर सब ये जीवन के लिये।
कर इसपे भी विचार कुछ कि जन्म तेरा किसलिए?

भूल बैठा तू जिसे 'किंकर' विचार कर तू ये।
मान या न मान, जीवन है तेरा प्रभु के लिये॥
प्रभु-प्रेम का तू छोड़ अमृत, विष जगत् का क्यों पिये?
प्रभु का बन पहचान कि यह जन्म तो प्रभु के लिये॥

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

भक्ति योग बारहवाँ अध्याय

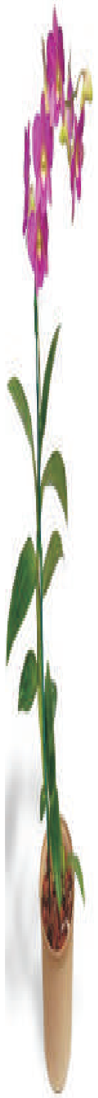

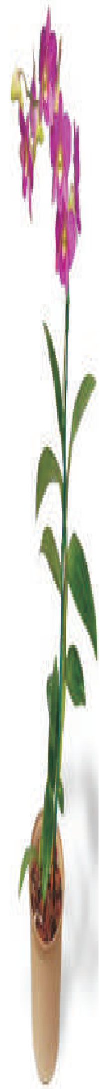

अर्जुन ने कहा -

1 **अव्यक्त को भजते कि जो धरते तुम्हारा ध्यान हैं।**
इन योगियों में योगवेत्ता कौन श्रेष्ठ महान् हैं॥

श्रीभगवान् ने कहा -

2 **कहता उन्हें मैं श्रेष्ठ मुझमें चित्त जो धरते सदा।**
जो युक्त हो श्रद्धा सहित मेरा भजन करते सदा॥
3 **अव्यक्त, अक्षर, अनिर्देश्य, अचिन्त्य नित्य स्वरूप को।**
भजते अचल, कूटस्थ, उत्तम, सर्वव्यापी रूप को॥
4 **सब इन्द्रियां साधे सदा समबुद्धि ही धरते हुए।**
पाते मुझे वे पार्थ प्राणीमात्र हित करते हुए॥
5 **अव्यक्त में आसक्त जो होता उन्हें अतिक्लेश है।**
पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है॥
6 **हो मत्परायण कर्म सब अर्पण मुझे करते हुए।**
भजते सदैव अनन्य मन से ध्यान जो धरते हुए॥
7 **मुझमें लगाते चित्त उनका शीघ्र कर उद्धार मैं।**
इस मृत्युमय संसार से बेड़ा लगाता पार मैं॥
8 **मुझमें लगाले मन, मुझी में बुद्धि को रख सब कहीं।**
मुझमें मिलेगा फिर तभी, इसमें कभी संशय नहीं॥
9 **मुझमें धनंजय ! जो न ठीक प्रकार मन पाओ बसा।**
अभ्यास-योग प्रयत्न से मेरी लगाओ लालसा॥
10 **अभ्यास भी होता नहीं तो कर्म कर मेरे लिये।**
सब सिद्धि होगी कर्म भी मेरे लिये अर्जुन ! किये॥
11 **यह भी न हो तब आसरा मेरा लिये कर योग ही।**
कर चित्त-संयम कर्म - फल के त्याग सारे भोग ही॥
12 **अभ्यास - पथ से ज्ञान उत्तम, ज्ञान से गुरु ध्यान है।**
गुरु ध्यान से फल त्याग, करता त्याग शान्ति प्रदान है॥
13 **बिन द्वेष, सारे प्राणियों का मित्र, करुणावान् हो।**
सम दु:ख सुख में मद न ममता, क्षमा शील महान् हो॥
14 **जो तुष्ट नित मन बुद्धि से मुझमें हुआ आसक्त है।**
दृढ़ नि श्चयी है संयमी प्यारा मुझे वह भक्त है॥
15 **पाते न जिससे क्लेश जन, उनसे न पाता आप ही।**
भय क्रोध हर्ष विषाद बिन प्यारा मुझे है जन वही॥
16 **जो शुचि उदासी दक्ष है जिसको न दुख वाधा रही।**
इच्छा-रहित, आरम्भ-त्यागी, भक्त प्रिय मुझको वही॥

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

भक्ति योग बारहवाँ अध्याय

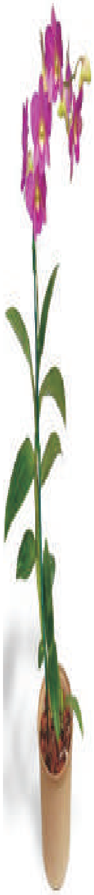

17 करता न द्वेष न हर्ष जो बिन शोक है बिन कामना।
त्यागे शुभाशुभ फल वही है भक्त प्रिय मुझको घना॥
18 सम शत्रु मित्रों से सदा अपमान मान समान है।
शीतोष्ण सुख दुख सम जिसे, आसक्ति बिन मतिमान है॥
19 निन्दा प्रशंसा सम जिसे, मौनी सदा सन्तुष्ट ही।
अनिकेत निश्चल बुद्धिमय प्रिय भक्त है मुझको वही॥
20 जो मत्परायण इस अमृत - मय - धर्म में अनुरक्त हैं।
वे नित्य श्रद्धावान् जन मेरे परम प्रिय भक्त हैं॥

॥ भक्ति योग बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

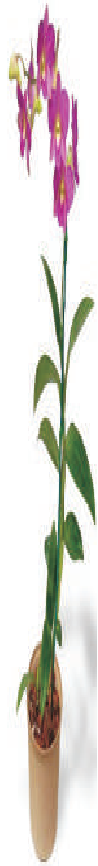

भजन में ही रह मगन

(गीता मनीषी स्वामी श्री ज्ञानानन्द जी महाराज)

नहीं मिला यह जन्म केवल खाने पीने सोने को।
नर देह मिली है इसलिए आगे न और जन्म हो॥
आवागमन से मुक्त होने का ही सदा कर यत्न।
साधान है इसका एक ही तू भजन में ही रह मगन॥

प्रभु भजन के अतिरिक्त, सब कुछ ही यहाँ निःसार है।
करता न जो ईश्वर भजन, उसका जन्म बेकार है॥
मिथ्या ये धन्धे छोड़कर मन में लगा इक ही लगन॥
हैभ ाजनह ीस ुखरू पब सत ू भ ाजनम ेंह ीर हम गन॥

तेज पानी और हवा सम्भव न जीना जिनके बिन।
बिन मोल ईश्वर ने दिया सब कुछ है तुझे, तू लेकिन॥
भूलकर उस ईश्वर को ही बना क्यों कृतघ्न।
एहसान प्रभु के याद करके भजन में ही रह मगन॥

हरि भजन बिन सुख शांति मुक्ति की गति न कोई और।
बीता है जो जीवन उसी पर देख ले तू करके गौर॥
जितने मनोरथ रखे जग से हो गये वे सब भगन।
है सार नर तन का भजन बस भजन में ही रह मगन॥

जम गई वृत्ति अगर हरि भजन में बस एक बार।
होने लगेगा रोम-रोम में ही मस्ती का संचार॥
छोड़ने से भी न छूट पायेगी फिर यह लगन।
इसीलिये कहता हूँ 'किंकर' भजन में ही रह मगन॥

श्रीमद्भगवद्गीता

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग तेरहवाँ अध्याय

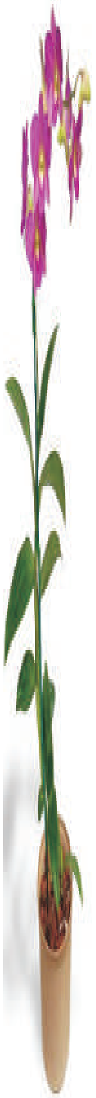

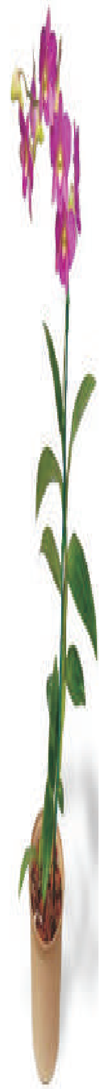

श्रीभगवान् ने कहा -

1 कौन्तेय यह तन क्षेत्र है ज्ञानी बताते हैं यही।
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ कहलाता वही॥
2 हे पार्थ ! क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान् तू।
क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र का सब ज्ञान मेरा जान तू॥
3 वह क्षेत्र जो, जैसा जहां से, जिन विकारों-युत, सभी।
संक्षेप में सुन, जिस प्रभाव समेत वह क्षेत्रज्ञ भी॥
4 बहु भांति ऋषियों और छन्दों से अनेक प्रकार से।
गाया पदों में ब्रह्म सूत्रों के सहेतु विचार से॥
5 मन बुद्धि एवं महाभूत प्रकृति अहंकृति भाव भी।
पांचों विषय सब इन्द्रियों के और इन्द्रियगण सभी॥
6 सुख दुःख इच्छा द्वेष धृति संघात एवं चेतना।
संक्षेप में यह क्षेत्र है समुदाय जो इनका बना॥
7 अभिमान दम्भ अभाव, आर्जव, शौच, हिंसाहीनता।
थिरता, क्षमा, निग्रह तथा आचार्य-सेवा दीनता॥
8 इन्द्रिय-विषय-वैराग्य एवं मद सदैव निवारना।
जीवन, जरा, दुख, रोग, मृत्यु सदोष नित्य विचारना॥
9 नहिं लिप्त नारी पुत्र में सब त्यागना फल वासना।
नित शुभ अशुभ की प्राप्ति में भी एकसा रहना बना॥
10 मुझमें सदैव अनन्यता से शुद्ध अविचल भक्ति हो।
एकान्त का सेवन, न जन समुदाय में आसक्ति हो॥
11 अध्यात्म ज्ञान व तत्त्व-ज्ञान विचार, यह सब ज्ञान है।
विपरीत इनके और जो कुछ है सभी अज्ञान है॥
12 अब वह बताता ज्ञेय जिसके ज्ञान से निस्तार है।
नहिं जो असत् सत् है, अनादि महान् ब्रह्म अपार है॥
13 सर्वत्र उसके पाणि पद, सिर नेत्र मुख सब ओर ही।
सब ओर उसके कान हैं, सर्वत्र फैला है वही॥
14 इन्द्रिय गुणों का भास उसमें किन्तु इन्द्रिय-हीन है।
हो अलग जग पालक, निगुण होकर गुणों में लीन है॥
15 भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी।
वह चर अचर अतिसूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी॥
16 अविभक्त होकर प्राणियों में वह विभक्त सदैव है।
वह ज्ञेय पालक और नाशक जन्मदाता देव है॥
17 वह ज्योतियों की ज्योति है, तम से परे है, ज्ञान है।
सब में बसा है, ज्ञेय है, वह ज्ञानगम्य महान् है॥

श्रीमद्भगवद्गीता

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग तेरहवाँ अध्याय

18 यह क्षेत्र, ज्ञान, महान् ज्ञेय, कहा गया संक्षेप से।
हे पार्थ ! इसको जान मेरा भक्त मुझमें आ बसे॥
19 यह प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि विचार तू।
पैदा प्रकृति ही से समझ गुण तीन और विकार तू॥
20 है कार्य एवं करण की उत्पत्ति कारण प्रकृति ही।
इस जीव को कारण कहा सुख दुःख भोग निमित्त ही॥
21 रह कर प्रकृति में नित पुरुष करता प्रकृति-गुण भोग है।
अच्छी बुरी सब योनियां देता यही गुण-योग है॥
22 द्रष्टानुमन्ता ईश भर्ता और भोक्ता सर्वदा।
इस देह में वह, पर पुरुष परमात्म कहलाता सदा॥
23 ऐसे पुरुष एवं प्रकृति को गुण सहित जो जान ले।
बरताव कैसा भी करे वह जन्म फिर जग में न ले॥
24 कुछ आपही में आप आत्मा देखते हैं ध्यान से।
कुछ कर्म-योगी योग से, कुछ सांख्य ज्ञानी - ज्ञान से॥
25 सुन दूसरों से ही किया करते भजन अनजान हैं।
तरते असंशय मृत्यु वे, श्रुति में लगे मतिमान् हैं॥
26 जानो चराचर जीव जो पैदा हुए संसार में।
सब क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ के संयोग से विस्तार में॥
27 अविनाशि, नश्वर सर्वभूतों में रहे सम नित्य ही।
इस भांति ईश्वर को पुरुष जो देखता देखे वही॥
28 जो देखता समभाव से ईश्वर सभी में व्याप्त है।
करता न अपनी घात है, करता परम-पद प्राप्त है॥
29 करती प्रकृति सब कर्म, आत्मा है अकर्ता नित्य ही।
इस भांति से जो देखता है, देखता है जन वही॥
30 जब प्राणियों की भिन्नता जन एक में देखे सभी।
विस्तार देखे एक से ही ब्रह्म को पाता तभी॥
31 यह ईश अव्यय, निगुण और अनादि होने से सदा।
करता न होता लिप्त है रह देह में भी सर्वदा॥
32 नभ सर्वव्यापी सूक्ष्म होने से न जैसे लिप्त हो।
सर्वत्र आत्मा देह में रह कर न वैसे लिप्त हो॥
33 ज्यों एक रवि सम्पूर्ण जग में तेज भरता है सदा।
यों ही प्रकाशित क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ करता है सदा॥
34 क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र-अन्तर ज्ञान से समझें सही।
समझें प्रकृति से छूटना जो ब्रह्म को पाते वही॥

॥ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

गुणत्रय विभाग योग चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

1 अतिश्रेष्ठ ज्ञानों में बताता ज्ञान मैं अब और भी।
मुनि पा गये हैं सिद्धि जिसको जानकर जग में सभी॥
2 इस ज्ञान का आश्रय लिये जो रूप मेरा हो रहें।
उत्पत्ति-काल न जन्म लें, लय-काल में न व्यथा सहें॥
3 इस प्रकृति अपनी योनि में मैं गर्भ रखता हूं सदा।
उत्पन्न होते हैं उसीसे सर्व प्राणी सर्वदा॥
4 सब योनियों में मूर्तियों के जो अनेकों रूप हैं।
मैं बीज-प्रद उनका पिता हूं प्रकृति योनि अनूप हैं॥
5 पैदा प्रकृति से सत्त्व, रज, तम त्रिगुण का विस्तार है।
इस देह में ये जीव को लें बांध, जो अविकार है॥
6 अविकार सतगुण है प्रकाशक क्योंकि निर्मल आप है।
सुख, ज्ञान से यह बाँध लेता जीव हे निष्पाप ! है।
7 है रागमय रजगुण इसीसे संग तृष्णा भी बढ़े।
फिर कर्म में आसक्त होकर जीव बन्धन में पड़े॥
8 अज्ञान से उत्पन्न तम सब जीव जो मोहित करे।
आलस्य नींद प्रमाद से यह जीव को बंधित करे॥
9 सुख में सतोगुण, कर्म में देता रजोगुण संग है।
ढक कर तमोगुण ज्ञान को देता प्रमाद प्रसंग है॥
10 रज तम दबें तब सत्त्व गुण, तम सत्त्व दबते रज बढ़े।
रज सत्त्व दबते ही तमोगुण देहधारी पर चढ़े॥
11 जब देह की सब इन्द्रियों में ज्ञान का हो चांदना।
जब जान लेना चाहिये तन में सतोगुण है घना॥
12 तृष्णा अशान्ति प्रवृत्ति होकर मन प्रलोभन में पड़े।
आरम्भ होते कर्म के अर्जुन ! रजोगुण जब बढ़े॥
13 कौन्तेय ! मोह, प्रमाद हो जब हो न मन में चांदना।
उत्पन्न हो आलस्य जब होता तमोगुण है घना॥
14 इस जीव में यदि सत्त्वगुण की वृद्धि मरते काल है।
तत्त्वज्ञियों का प्राप्त करता शुद्ध लोक विशाल है॥
15 रज-वृद्धि में मर देह कर्मासक्त पुरुषों में धरे।
जड़ योनियों में जन्मता यदि जन तमोगुण में मरे॥
16 फल पुण्य कर्मों का सदा शुभ श्रेष्ठ सात्त्विक ज्ञान है।
फल दुख रजोगुण का, तमोगुण फल सदा अज्ञान है।
17 उत्पन्न सत से ज्ञान, रज से नित्य लोभ प्रधान है।
है मोह और प्रमाद तमगुण से सदा अज्ञान है॥

श्रीमद्भगवद्गीता

गुणत्रय विभाग योग चौदहवाँ अध्याय

18 सात्त्विक पुरुष स्वर्गादि में, नरलोक में राजस बसें।
जो तामसी गुण में बसे, वे जन अधोगति में फँसें॥
19 कर्ता न कोई तज त्रिगुण यह देखता दृष्टा जभी।
जाने गुणों से पार जब, पाता मुझे है जन तभी॥
20 जो देहधारी, देह-कारण पार ये गुण तीन हो।
छुट जन्म मृत्यु जरादि दुख से वह अमृत में लीन हो॥

अर्जुन ने कहा -

21 लक्षण कहो उनके प्रभो जन जो त्रिगुण से पार हैं।
किस भांति होते पार क्या उनके कहो आचार हैं॥

श्रीभगवान् ने कहा -

22 पाकर प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह, न पार्थ ! इनसे द्वेष है।
यदि हों नहीं वे प्राप्त, उनकी लालसा न विशेष है॥
23 रहता उदासी सा गुणों से हो नहीं विचलित कहीं।
सब त्रिगुण करते कार्य हैं यह जान जो डिगता नहीं॥
24 हैस् वस्थस ुखद ुखस मर्ा जसे,स मढ ेलप त्थरस् वर्णभ ाी।
जोध ीर,ि नन्दास्तुतिर्ा जसेस म,त ुल्यअ प्रिर्या प्रयस भी॥
25 सम बन्धु बैरी हैं जिसे अपमान मान समान है।
आरम्भ त्यागे जो सभी वह गुणातीत महान है॥
26 जो शुद्ध निश्चल भक्ति से भजता मुझे है नित्य ही।
तीनों गुणों से पार होकर ब्रह्म को पाता वही॥
27 अव्यय अमृत मैं और मैं ही ब्रह्मरूप महान हूँ।
मैं ही सनातनधर्म और अपार मोद निधान हूँ॥

॥ गुणत्रय विभाग योग चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पुरुषोतम योग पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा -

1 है मूल ऊपर शाख नीचे पत्र जिसके वेद हैं।
वे वेदवित् जो जानते अश्वत्थ-अव्यय-भेद हैं॥
2 पल्लव विषय, गुण से पली अध ऊर्ध्व शाखा छा रहीं।
नर लोक में नीचे जड़ें कर्मानुबन्धी जा रहीं॥
3 उसका यहां मिलता स्वरूप न आदि मध्याधार से।
दृढ़ मूल यह अश्वत्थ काट असंग शस्त्र प्रहार से॥
4 फिर वह निकालो ढूँढ कर पद श्रेष्ठ ठीक प्रकार से।
कर प्राप्त जिसको फिर न लौटें, छूट कर संसार से॥
मैं शरण उसकी हूँ पुरुष जो आदि और महान है।
उत्पन्न जिससे सब पुरातन, यह प्रवृत्ति विधान है॥
5 जीता जिन्होंने संग-दोष न मोह जिनमें मान है।
मन में सदा जिनके जगा अध्यात्म-ज्ञान प्रधान है॥
जिनमें न कोई कामना सुख दुःख और न द्वन्द्व ही।
अव्यय परमपद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही॥
6 जिसमें न सूर्य्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है।
लौटे न जन जिसमें पहुँच मेरा वही पर धाम है॥
7 इस लोक में मेरा सनातन अंश है यह जीव ही।
मन के सहित छै प्रकृतिवासी खींचता इन्द्रिय वही॥
8 जब जीव लेता देह अथवा त्यागता सम्बन्ध को।
करता ग्रहण इनको सुमन से वायु जैसे गंध को॥
9 रसना, त्वचा, दृग, कान एवं नाक, मन-आश्रय लिये।
यह जीव सब सेवन किया करता विषय निर्मित किये॥
10 जाते हुए तन त्याग, रहते, भोगते गुणयुक्त भी।
जानें न इसको मूढ़ मानव, जानते ज्ञानी सभी॥
11 कर यत्न योगी आपमें इसको बसा पहिचानते।
पर यत्न करके भी न मूढ़ अशुद्ध आत्मा जानते॥
12 करता प्रकाशित विश्व, मेरा तेज ठैर दिनेश में।
वह जान मेरा तेज ही जो अग्नि में राकेश में॥
13 क्षिति में बसा निज तेज से मैं प्राणियों को धर रहा।
रस रूप होकर सोम सारी पुष्ट औषधि कर रहा॥
14 मैं प्राणियों में बस रहा हो रूप वै श्वानर महा।
पाचन चतुर्विध अन्न प्राणापान-युत हो कर रहा॥
15 सुधि ज्ञान और अपोह, मुझसे मैं सभी में बस रहा।
वेदान्तकर्ता वेदवेद्य सुवेदवित् मुझको कहा॥

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

पुरुषोत्तम योग पन्द्रहवाँ अध्याय

16 संसार में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं सर्वदा।
क्षर सर्व भूतों को कहा कूटस्थ है अक्षर सदा॥
17 कहते जिसे परमात्म हैं, उत्तम पुरुष इनसे परे।
त्रैलोक्य में रह ईश अव्यय सर्व जग पोषण करे॥
18 क्षर और अक्षर से परे मैं श्रेष्ठ हूं संसार में।
इस हेतु पुरुषोत्तम कहाया वेद लोकाचार में॥
19 तज मोह पुरुषोत्तम मुझे जो पार्थ ! लेता जान है।
सब भांति वह सर्वज्ञ हो भजता मुझे मतिमान् है॥
20 मैंने कहा यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान महान् है।
यह जान कर करता सदा जीवन सफल मतिमान् है॥

॥ पुरुषोत्तम योग पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

गीता महिमा

1 गीता हृदय भगवान् का, सब ज्ञान का शुभ सार है।
इस शुद्ध गीताज्ञान से ही, चल रहा संसार है॥
2 गीता परम विद्या सनातन सर्वशास्त्र प्रधान है।
परब्रह्म रूपी मोक्षकारी नित्य गीता गान है॥
3 यह मोह माया कष्टमय तरना जिसे संसार हो।
वह बैठ गीता-नाव में सुख से सहज में पार हो॥
4 संसार के सब ज्ञान का यह ज्ञानमय भंडार है।
श्रुति, उपनिषद्, वेदान्त ग्रन्थों का महा शुभ सार है॥
5 सुनते सुनाते नित्य जो लाते इसे व्यवहार में।
पाते परम-पद ठाकरें खाते नहीं संसार में॥
6 धरते हुए जो ध्यान, गीताज्ञान का तन छोड़ते।
लेने उसे माधव मुरारी आप ही उठ दौड़ते॥

(ब्रह्मलीन पं० श्री दीना नाथ जी भार्गव)

श्रीमद्भगवद्गीता

दैवीसंपदा योग सोलहवाँ अध्याय

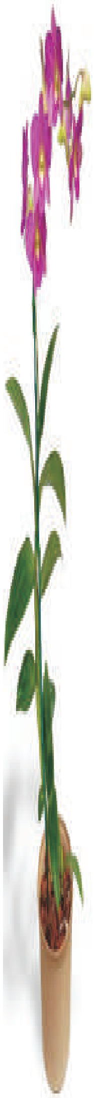

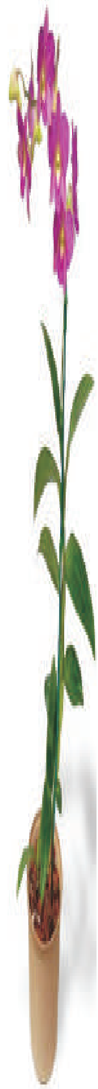

श्रीभगवान् ने कहा -

1 इन्द्रिय-दमन, भय-हीनता, शुचि वृत्ति, सात्त्विक-ज्ञान भी।
तन-मन सरलता, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सात्त्विक दान भी॥
2 मृदुता, अनिन्दा, सत्य, करुणा, शान्ति, क्रोध-विहीनता।
लज्जा, अचञ्चलता, अहिंसा, त्याग, तृष्णाहीनता॥
3 धृति, तेज, पावनता, क्षमा, अद्रोह, मान-विहीनता।
ये चिन्ह उनके पार्थ जिनको प्राप्त दैवी-सम्पदा॥
4 मद, मान, मिथ्याचार, क्रोध, कठोरता, अज्ञान भी।
ये आसुरी सम्पत्ति में जन्में हुए पाते सभी॥
5 दे मोक्ष दैवी, बांधती है आसुरी सम्पत्ति ये।
मत शोक अर्जुन ! कर हुआ तू दैव संपद् को लिये॥
6 दो भांति की है सृष्टि दैवी, आसुरी, संसार में।
सुन आसुरी अब पार्थ ! दैवी कह चुका विस्तार में॥
7 क्या है प्रवृत्ति निवृत्ति? जग में जानते आसुर नहीं।
आचार, सत्य, विशुद्धता होती नहीं उनमें कहीं॥
8 कहते असुर झूठा जगत्, बिन ईश बिन आधार है।
केवल परस्पर योग से बस भोग-हित संसार है॥
9 इस दृष्टि को धर, मूढ़ नर, नष्टात्म, रत अपकार में।
जग नाश हित वे क्रूर-कर्मी जन्मते संसार में॥
10 मद मान दम्भ-विलीन, काम अपूर का आश्रय लिये।
बर्तें अशुचि नर मोह वश होकर असत् आग्रह लिये॥
11 उनमें मरण-पर्यन्त चिन्ताएँ अनन्त सदा रहें।
वे भोग विषयों में लगे आनन्द उसही को कहें॥
12 आशा कुबन्धन में बंधे, धुन क्रोध एवं काम की।
सुख भोग हित अन्याय से इच्छा करें धन धाम की॥
13 यह पा लिया अब, वह मनोरथ सिद्ध कर लूँगा सभी।
यह धन हुआ मेरा मिलेगा और भी आगे अभी॥
14 यह शत्रु मैंने आज मारा, कल हनूँगा और भी।
भोगी, सुखी, बलवान् ई श्वर, सिद्ध हूँ, मैं ही सभी॥
15 श्रीमान् और कुलीन मैं हूं कौन मुझसे और हैं।
मख, दान, सुख भी मैं करूँगा, मूढ़ता-मोहित कहें॥
16 भूले अनेकों कल्पना में मोह-बन्धन बीच हैं।
वे काम भोगों में फंसे पड़ते नरक में नीच हैं।
17 धन, मान, मद में मस्त, ऐंठू निज-प्रशंसक अज्ञ हैं।
वे दम्भ से विधिहीन करते नाम ही को यज्ञ हैं॥

श्रीमद्भगवद्गीता

दैवीसंपदा योग सोलहवाँ अध्याय

18 बल,क ाम,क्र ोध,घ ामण्ड,व श,ि नन्दाक रेंब लस े त ने।
सब में व अपने में बसे मुझ देव के द्वेषी बने॥
19 जो हैं नराधम क्रूर द्वेषी लीन पापाचार में।
उनको गिराता नित्य आसुर योनि में संसार में॥
20 वे जन्म जन्म सदैव आसुर योनि ही पाते रहें।
मुझको न पाकर अन्त में अति ही अधोगति को गहें॥
21 ये काम लालच क्रोध तीनों ही नरक के द्वार हैं।
इस हेतु तीनों आत्म-नाशक त्याज्य सर्व प्रकार हैं॥
22 इन नरक द्वारों से पुरुष जो मुक्त पार्थ ! सदैव ही।
शुभ आचरण निज हेतु करता परम गति पाता वही॥
23 जो शास्त्रविधि को छोड़, करता कर्म मनमाने सभी।
वह ि सद्धि,स ुखअ थवाप रमगतिक ोन प ाताह ैक भी॥
24 इस हेतु कार्य्य-अकार्य-निर्णय मान शास्त्र-प्रमाण ही।
करना कहा जो शास्त्र में है, जानकर वह, कर वही॥

॥ दैवीसंपदा योग सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्री कृष्णार्जुन संवाद

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रद्धात्रय योग सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा -

1 करते यजन जो शास्त्रविधि को छोड़ श्रद्धायुक्त हो।
हे कृष्ण ! उनकी सत्त्व, रज, तम कौनसी निष्ठा कहो॥

श्रीभगवान् ने कहा -

2 श्रद्धा स्वभावज प्राणियों में पार्थ ! तीन प्रकार से।
सुन सात्त्विकी भी राजसी भी तामसी विस्तार से॥
3 श्रद्धा सभी में सत्त्व सम, श्रद्धा स्वरूप मनुष्य है।
जिसकी रहे जिस भांति श्रद्धा वह उसी सा नित्य है॥
4 सात्त्विक सुरों का, यक्ष राक्षस का यजन राजस करें।
नित भूत प्रेतों का यजन जन तामसी मन में धरें॥
5 जो घोर तप तपते पुरुष हैं शास्त्र विधि से हीन हो।
मद दम्भ पूरित, कामना बल राग के आधीन हो॥
6 तन पंच-भूतों को, मुझे भी - देह में जो बस रहा।
जो कष्ट देते जान उनको मूढ़मति आसुर महा॥
7 हे पार्थ ! प्रिय सबको सदा आहार तीन प्रकार से।
इस भांति ही तप दान मख भी हैं, सुनो विस्तार से॥
8 दें आयु, सात्त्विकबुद्धि, बल, सुख, प्रीति, एवं स्वास्थ्य भी।
रसमय चिरस्थिर हृद्य चिकने खाद्य सात्त्विक प्रिय सभी॥
9 नमकीन, कटु, खट्टे, गरम, रुखे व दाहक, तीक्ष्ण ही।
दुख-शोक-रोगद खाद्य, प्रिय हैं राजसी को नित्य ही॥
10 रक्खा हुआ कुछ काल का, रसहीन, बासी या सड़ा।
नर तामसी अपवित्र भोजन भोगते जूठा पड़ा॥
11 फल आश तज, जो शास्त्र विधिवत, मान कर कर्तव्य ही।
अतिशान्त मन करके किया हो, यज्ञ सात्त्विक है वही॥
12 हे भरतश्रेष्ठ ! सदैव ही फल-वासना जिसमें बसी।
दम्भाचरण हित जो किया वह यज्ञ जानो राजसी॥
13 विधि-अन्नदान-विहीन जो, बिन दक्षिणा के हो रहा।
बिन-मन्त्र-श्रद्धा, यज्ञ जो वह तामसी जाता कहा॥
14 सुर द्विज तथा गुरु प्राज्ञ पूजन ब्रह्मचर्य सदैव ही।
शुचिता अहिंसा नम्रता तन की तपस्या है यही॥
15 सच्चे वचन, प्रिय और हितकर, दुःख न जिनसे हो कभी।
स्वाध्याय का अभ्यास भी, वाणी तपस्या है सभी॥
16 सौम्यत्व, मौन, प्रसाद मन का, शुद्ध भाव सदैव ही।
करना मनोनिग्रह सदा मन की तपस्या है यही॥

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रद्धात्रय योग सत्रहवाँ अध्याय

17 श्रद्धा सहित हो योगयुत फल वासनाएँ तज सभी।
करते पुरुष, तप ये त्रिविध, सात्त्विक तपस्या है तभी॥
18 सत्कार पूजा मान के हित दम्भ से जो हो रहा।
वह तप अनिश्चित और न श्वर, राजसी जाता कहा॥
19 जो मूढ़-हठ से आपही को कष्ट देकर हो रहा।
अथवा किया पर नाश हित, तप तामसी उसको कहा॥
20 देना समझ कर अनुपकारी को दिया जो दान है।
वह दान सात्त्विक देश काल सुपात्र का जब ध्यान है॥
21 जो दान प्रत्युपकार के हित क्लेश पाकर के किया।
है राजसी वह दान जो फल आश के हित है दिया॥
22 बिन देश काल सुपात्र देखे जो दिया बिन मान है।
अथवा दिया अवहेलना से तामसी वह दान है॥
23 शुभ ॐ तत् सत् ब्रह्म का यह त्रिविध उच्चारण कहा।
निर्मित इसी से आदि में हैं, वेद ब्राह्मण मख महा॥
24 इस हेतु कहकर ॐ होते नित्य मख तप दान भी।
सब ब्रह्मनिष्ठों के सदा शास्त्रोक्त कर्म-विधान भी॥
25 कल्याण-इच्छुक त्याग फल ''तत्'' शब्द कहकर सर्वदा।
तप यज्ञ दान क्रियादि करते हैं विवध विधि से सदा॥
26 सद् साधु भावों के लिये ''सत्'' का सदैव प्रयोग है।
हे पार्थ ! उत्तम कर्म में ''सत्'' शब्द का उपयोग है॥
27 ''सत्'' ही कहाती दान तप में यज्ञ में दृढ़ता सभी।
कहते उन्हें ''सत्'' ही सदा उनके लिये जो कर्म भी॥
28 सब ही असत् श्रद्धा बिना जो होम तप या दान है।
देता न वह इस लोक में या मृत्यु पर कल्यान है॥

॥ श्रद्धात्रय योग सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

मोक्ष संन्यास योग अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा –

1 **संन्यास एवं त्याग-तत्त्व पृथक् महाबाहो ! कहो।**
इच्छा मुझे है हृषीकेश ! समस्त इनका ज्ञान हो॥

श्रीभगवान् ने कहा –

2 **सब काम्य-कर्मन्यास ही संन्यास ज्ञानी मानते।**
सब कर्मफल के त्याग ही को त्याग विज्ञ बखानते॥
3 **हैं दोषवत् सब कर्म कहते त्याज्य कुछ विद्वान् हैं।**
तप दान यज्ञ न त्यागिये कुछ दे रहे यह ज्ञान हैं॥
4 **हे पार्थ ! सुन जो ठीक मेरा त्याग हेतु विचार है।**
हे पुरुषव्याघ्र ! कहा गया यह त्याग तीन प्रकार है॥
5 **मख दान तप ये कर्म करने योग्य, त्याज्य न हैं कभी।**
मख दान तप विद्वान् को भी शुद्ध करते हैं सभी॥
6 **येक र्मभ ीअ ासक्तिा बनह ो,त यागक रप ल्लि नत्यह ी।**
करने उचित हैं पार्थ ! मेरा श्रेष्ठ निर्ि श्चत् मत यही॥
7 **निज नियत-कर्म न त्यागने के योग्य होते हैं कभी।**
यदि मोह से हो त्याग तो वह त्याग तामस है सभी॥
8 **दुख जान कायाक्लेश भय से कर्म यदि त्यागे कहीं।**
वह राजसी है त्याग उसका फल कभी मिलता नहीं॥
9 **फल, संग, तज जो कर्म नियमित कर्म अपना मान है।**
माना गया वह त्याग शुभ सात्त्विक सदैव महान् है॥
10 **नहि द्वेष अकुशल कर्म से, जो कुशल में नहिं लीन है।**
संशयरहित त्यागी वही है सत्त्वनिष्ठ प्रवीन है॥
11 **सम्भव नहीं है देहधारी त्याग दे सब कर्म ही।**
फल कर्म के जो त्यागता, त्यागी कहा जाता वही॥
12 **पाते सकामी देह तज फल शुभ अशुभ मिश्रित सभी।**
त्यागी पुरुष को पर न होता है त्रिविध फल ये कभी॥
13 **हैं पाँच कारण जानलो सब कर्म होने के लिये।**
सुन मैं सुनाता सांख्य के सिद्धान्त में जो भी दिये॥
14 **आधार कर्ता और सब साधन पृथक् विस्तार से।**
चेष्टा विविध विध, दैव, ये हैं हेतु पाँच प्रकार के॥
15 **तन मन वचन से जन सभी जो कर्म जग में कर रहे।**
हों ठीक या विपरीत उनके पाँच ये कारण कहे॥
16 **जो मूढ़ अपने आपको ही किन्तु कर्ता मानता।**
उसकी नहीं है शुद्ध बुद्धि, न ठीक वह कुछ जानता॥

श्रीमद्भगवद्गीता

मोक्ष संन्यास योग अठारहवाँ अध्याय

17 जो जन अहंकृतिभाव बिन, नहिं लिप्त जिसकी बुद्धि भी।
नहिं मारता वह मारकर भी, है न बन्धन में कभी॥
18 नित ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय करते कर्म में है प्रेरणा।
है कर्मसंग्रह, करण, कर्ता कर्म तीनों से बना॥
19 सुन ज्ञान एवं कर्म, कर्ता भेद गुण अनुसार हैं।
जैसे कहे हैं सांख्य में वे सर्व तीन प्रकार हैं॥
20 सब भिन्न भूतों में अन श्वर एक भाव अभिन्न ही।
जिस ज्ञान से जन देखता है, ज्ञान सात्त्विक है वही॥
21 जिस ज्ञान से सब प्राणियों में भिन्नता का भान है।
सब में अनेकों भाव दिखते, राजसी वह ज्ञान है॥
22 जो एक ही लघुकार्य में आसक्त पूर्ण-समान है।
निःसार युक्ति-विहीन है वह तुच्छ तामस ज्ञान है॥
23 फलआश-त्यागी नित्य नियमित कर्म जो भी कर रहा।
बिन राग द्वेष, असंग हो, वह कर्म सात्त्विक है कहा॥
24 आशा लिये फल की अहंकृत-बुद्धि से जो काम है।
अति ही परिश्रम से किया, राजस उसी का नाम है॥
25 परिणाम, पौरुष, हानि, हिंसा का न जिसमें ध्यान है।
वह तामसी है कर्म जिसके मूल में अज्ञान है॥
26 बिन अहंकार, असंग, धीरजवान्, उत्साही महा।
अविकार सिद्धि असिद्धि में सात्त्विक वही कर्ता कहा॥
27 हिंसक, विषय-मय, लोभ-हर्ष-विषाद-युक्त मलीन है।
फल कामना में लीन, कर्ता राजसी वह दीन है॥
28 चंचल, घमंडी, शठ, विषादी, दीर्घसूत्री, आलसी।
शिक्षा-रहित, पर-हानि-कर, कर्ता कहा है तामसी॥
29 होते त्रिविध ही हे धनंजय ! बुद्धि धृति के भेद भी।
सुन भिन्न-भिन्न समस्त गुण अनुसार कहता हूँ अभी॥
30 जाने प्रवृत्ति निवृत्ति बन्धन मोक्ष कार्य्य अकार्य्य भी।
हे पार्थ ! सात्त्विक बुद्धि है जो भय अभय जाने सभी॥
31 जिस बुद्धि से निर्णय न कार्य अकार्य बीच यथार्थ है।
जाने न धर्म अधर्म को वह राजसी मति पार्थ ! है॥
32 तम व्याप्त हो जो बुद्धि, धर्म अधर्म ही को मानती।
वह तामसी जो नित्य अर्जुन ! अर्थ उलटे जानती॥
33 जब जन अचल धृति से क्रिया मन प्राण इन्द्रिय की सभी।
धारण करे नित योग से, धृति शुद्ध सात्त्विक है तभी॥

श्रीमद्भगवद्गीता

मोक्ष संन्यास योग अठारहवाँ अध्याय

34 आसक्ति से फल-कामना-प्रिय धर्म अर्थ व काम है।
धारण किये जिससे उसी का राजसी धृति नाम है॥
35 तामसव हीध ृतिप ार्थ!ि जससेस् वप्न,भ ाय,उ न्मादक ो।
तजता नहीं दुर्बुद्धि मानव, शोक और विषाद को॥
36 अबस ुनि त्रविधस ुखभ ेदभ ीि जसकेस दाअ भ्यासस े।
सब दु:ख का कर अन्त अर्जुन ! जन उसी में जा बसे॥
37 आरम्भ में विषवत्, सुधा सम किन्तु मधु परिणाम है।
जो आत्म-बुद्धि-प्रसाद-सुख, सात्त्विक उसी का नाम है॥
38 राजस वही सुख जो हुआ इन्द्रिय-विषय-संयोग से।
पहिले सुधा सम, अन्त में विष तुल्य हो फल-भोग से॥
39 आरम्भ एवं अन्त में जो मोह जन को दे रहा।
आलस्य नींद प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा॥
40 इस भूमि पर आकाश अथवा देवताओं में कहीं।
हो प्रकृति के इन तीन गुण से मुक्त ऐसा कुछ नहीं॥
41 द्विज और क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के परंतप ! कर्म भी।
उनके स्वभावज ही गुणों अनुसार बांटे हैं सभी॥
42 शमद मक्ष ामात पश ुद्धिअ ास्तिकब ुद्धिभ ीि वज्ञानभ ी।
द्विज के स्वभावज कर्म हैं, तन-मन-सरलता ज्ञान भी॥
43 धृति शूरता तेजस्विता रण से न हटना धर्म है।
चातुर्य्य स्वामीभाव देना दान क्षत्रिय कर्म है॥
44 कृषि धेनु-पालन वैश्य का वाणिज्य करना कर्म है।
नित कर्म शूद्रों का स्वभावज लोक-सेवा-धर्म है॥
45 करता रहे जो कर्म निज-निज सिद्धि पाता है वही।
निज-कर्म-रत नर सिद्धि सुन किस भाँति पाता नित्य ही॥
46 जिससे प्रवृत्ति समस्त जीवों की तथा जग व्याप्त है।
निज कर्म से नर पूज उसको सिद्धि करता प्राप्त है॥
47 निज धर्म निर्गुण श्रेष्ठ है, सुन्दर सुलभ पर धर्म से।
होता न पाप स्वभाव के अनुसार अपने कर्म से॥
48 निर्जि नयतक र्मस दोषह ों,त ोभ ीउ चितन हिंत यागह ै।
सब कर्म दोषों से घिरे जैसे धुएँ से आग है॥
49 वश में किये मन, मति असक्त, न कामना कुछ व्याप्त हो।
नैष्कर्म्य-सिद्धि महान तब, संन्यास द्वारा प्राप्त हो॥
50 जिस भांति पाकर सिद्धि होती ब्रह्म-प्राप्ति सदैव ही।
संक्षेप में सुन ज्ञान की अर्जुन परा-निष्ठा वही॥

श्रीमद्भगवद्गीता

मोक्ष संन्यास योग अठारहवाँ अध्याय

51 कर आत्म-संयम धैर्य्य से अतिशुद्ध मति में लीन हो।
सब त्याग शब्दादिक विषय, नित राग-द्वेष-विहीन हो॥
52 एकान्तसेवी अल्प-भोजी मन वचन तन वश किये।
हो ध्यान युक्त सदैव ही, वैराग्य का आश्रय लिये॥
53 बल अहंकार घमंड संग्रह क्रोध काम विमुक्त हो।
ममतारहित नर शान्त, ब्रह्म-बिहार के उपयुक्त हो॥
54 जो ब्रह्मभूत प्रसन्नमन है, चाह-चिन्ता-हीन है।
सम भाव सबमें साध, होता भक्ति में लवलीन है॥
55 मैं कौन कितना, भक्ति से उसको सभी यह ज्ञान हो।
मुझमें मिले, मेरी उसे जब तत्त्व से पहिचान हो॥
56 करता रहे सब कर्म भी मेरा सदा आश्रय धरे।
मेरी कृपा से प्राप्त वह अव्यय-सनातन-पद करे॥
57 मन से मुझे सारे समपित कर्म कर, मत्पर हुआ।
मुझमें निरन्तर चित्त धर, सम-बुद्धि में तत्पर हुआ॥
58 मुझमें रखे मन, मम कृपा से, दु:ख सब तर जायगा।
अभिमान से, मेरी न सुनकर, नाश केवल पायगा॥
59 'मैं नहिं करूँगा युद्ध' तुम अभिमान से कहते अभी।
यह व्यर्थ निश्चय है प्रकृति तुमसे करा लेगी सभी॥
60 करना नहीं जो चाहता है मोह में तल्लीन हो।
वह सब करेगा निज स्वभावज कर्म के आधीन हो॥
61 ईश्वर हृदय में प्राणियों के बस रहा है नित्य ही।
सब जीव-यन्त्रारूढ़ माया से घुमाता है वही॥
62 इस हेतु ले उसकी शरण सब भांति से सब ओर से।
शुभ शांति लेगा नित्य-पद, उसकी कृपा की कोर से॥
63 तुझसे कहा अतिगुप्त ज्ञान समस्त ये विस्तार से।
जिस भांति जो चाहे वही कर पार्थ ! पूर्ण विचार से॥
64 अब अन्त में अतिगुप्त हे कौन्तेय ! कहता बात हूँ।
अतिप्रिय मुझे तू अस्तु हित की बात कहता तात हूँ॥
65 रख मन मुझी में, कर यजन, मम भक्त बन, कर वन्दना।
मुझमें मिलेगा, सत्य प्रण तुझसे, मुझे तू प्रिय घना॥
66 तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो।
मैं मुक्त पापों से करूँगा तू न चिन्ता-व्याप्त हो॥
67 निन्दा करे मेरी, न सुनना चाहता, बिन भक्ति है।
उसको न देना ज्ञान यह जिसमें नहीं तप-शक्ति है॥

श्रीमद्भगवद्गीता

मोक्ष संन्यास योग अठारहवाँ अध्याय

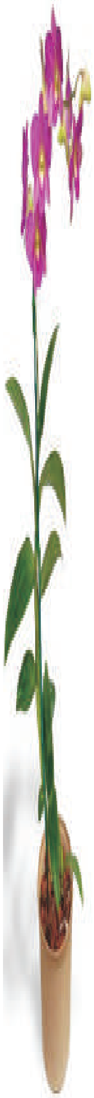

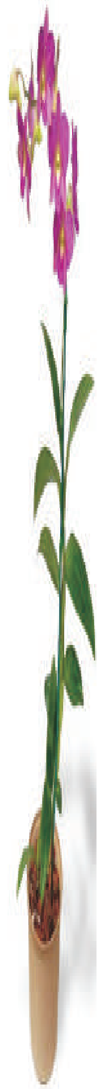

68 यह गुप्त-ज्ञान महान् भक्तों से कहेगा जो सही।
मुझमें मिलेगा भक्ति पा मेरी, असंशय नर वही॥
69 उससे अधिक प्रिय कार्य-कर्ता विश्व में मेरा नहीं।
उससे अधिक मुझको न प्यारा दूसरा होगा कहीं॥
70 मेरी तुम्हारी धर्म-चर्चा जो पढ़ेगा ध्यान से।
मैं मानता पूजा मुझे है ज्ञानयज्ञ विधान से॥
71 बिन दोष ढूँढे जो सुनेगा नित्य श्रद्धा-युक्त हो।
वह पुण्यवानों का महा शुभ लोक लेगा मुक्त हो॥
72 अर्जुन ! कहो तुमने सुना यह ज्ञान सारा ध्यान से।
अब भी छुटे हो या नहीं उस मोहमय अज्ञान से॥

अर्जुन ने कहा -

73 अच्युत ! कृपा से आपकी अब मोह सब जाता रहा।
संशय रहित हूँ, सुधि मुझे आई, करूँगा हरि कहा॥

संजय ने कहा -

74 इस भांति यह रोमांच-कारी और श्रेष्ठ रहस्य भी।
श्रीकृष्ण अर्जुन का सुना सम्वाद है मैंने सभी॥
75 साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण का वर्णन किया।
यह श्रेष्ठ योग-रहस्य व्यास-प्रसाद से सब सुन लिया॥
76 श्रीकृष्ण-अर्जुन का निराला पुण्यमय संवाद है।
हर बार देता हर्ष है, आता मुझे जब याद है॥
77 जब याद आता उस अनोखे रूप का विस्तार है।
होता तभी विस्मय तथा आनन्द बारम्बार है॥
78 श्रीकृष्ण योगेश्वर जहाँ, अर्जुन धनुर्धारी जहाँ।
वैभव, विजय, श्री, नीति सब, मत से हमारे हैं वहाँ॥

॥ मोक्ष सन्यास योग अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥